छेदसूत्र :
एक परिशीलन

छेदसूत्र : एक परिशीलन

(चार छेदसूत्रों का तुलनात्मक पर्यवेक्षण)

आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय
उदयपुर

प्रकाशकीय

ज्ञानज्योति आचार्य सम्राट श्री देवेन्द्र मुनिजी म. द्वारा लिखित छेद सूत्रों पर विस्तृत प्रकाश डालने वाली और आगमों का हार्द उद्घाटित करने वाली यह पुस्तक पाठकों के कर-कमलों में समर्पित करते हुए हमें अतीव प्रसन्नता है।

इससे पूर्व **भगवती सूत्र : एक परिशीलन** तथा **शब्दों की गागर में आगम का सागर** पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। आगम प्रेमी स्वाध्यायी पाठकों ने वे पुस्तकें बहुत पसन्द की तथा उनके अध्ययन से आगम ज्ञान के नये-नये आयाम भी उद्घाटित हुए हैं। उन्हीं की विशेष माँग को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत–"**छेदसूत्र : एक परिशीलन**" पुस्तक का प्रकाशन किया जा रहा है। इसी प्रकार अन्य आगमों की प्रस्तावनाएँ भी शीघ्र ही पुस्तकाकार प्रकाशन का हमारा लक्ष्य है। कम मूल्य में उत्कृष्ट साहित्य देना हमारा उद्देश्य रहा है।

–**चुन्नीलाल धर्मावत**
कोषाध्यक्ष
श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय

उदार सहयोगी
श्री राजेन्द्र कुमार जी पुनमिया : एक परिचय

भारतीय संस्कृति के तत्वदर्शी मनीषियों ने जीवन पर बहुत ही गंभीर चिन्तन किया है, उन्होंने कहा है कि जीवन वह है जिसमें उदारता, सेवा और सद्भावना हो, जिस जीवन में उदारता का अभाव है, वह जीवन वास्तविक जीवन नहीं। श्रीयुत् राजेन्द्र कुमार पुनमिया एक युवक हैं और उनमें युवकोचित जोश है, कार्य करने की क्षमता है।

राजेन्द्र कुमार जी के पिताश्री का नाम धनराज जी सा. पुनमिया, मातेश्वरी का नाम शांता बाई है जो बहुत ही धर्मपरायण सुश्राविका हैं! आपके ज्येष्ठ भ्राता का नाम जवाहरलाल जी है आपकी धर्मपत्नी का नाम सौ. कांता बाई है। सौ. कांता बाई एक धर्म-परायण महिला है जिसके जीवन के कण-कण में धार्मिक भावना अंगड़ाईयां ले रही है। आपको धर्म साधना के प्रति सहज रूचि रही है और धार्मिकता के प्रति भी आपका स्वाभाविक रुझान है। आपके तीन सुपुत्र चेतन कुमार, हेमन्त कुमार और सचिन कुमार है और एक पुत्री है जिसका नाम सोनल कुमारी है। राजस्थान में आप सादड़ी के मूल निवासी हैं किन्तु वर्तमान में आपका व्यवसाय बार्सी और पूना (महा.) में है। बार्सी में दाल मिल कमीशन एजेन्ट तथा स्टेट ब्रोकर है, आपके फर्म का नाम इस प्रकार है :

फर्म : **महाराष्ट्र दाल मील, बार्शी**
आर. के ट्रेडर्स, पूना
आर. के डेवलपर्स, पूना

प्रस्तुत ग्रन्थ की 500 प्रति छपवाने में आपश्री का अनुदान प्राप्त हुआ है, परम श्रद्धेय स्व. पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म. तथा आचार्य सम्राट श्री देवेन्द्र मुनि जी म. के प्रति आपकी तथा आपके परिवार की अनंत आस्थाएं हैं। आपकी भव्य भावना सदा विकसित होती रहे, यही मंगल कामना है।

चुन्नीलाल धर्मावत
कोषाध्यक्ष
श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय,

लेखक की कलम से

भारतीय साहित्य में दूध को अमृत माना है, दूध अमृत है दूध के महत्व पर भारतीय महामनीषियों ने सैकड़ों पृष्ठ लिखें हैं। भारत के हजारों ऋषिगण केवल दुग्धाहारी थे। वर्षों तक वे दूध पीकर ही अपना जीवन यापन करते रहे। आयुर्वेदिक ग्रन्थों में दूध को सर्वपोषक तत्व माना है तथापि पात्रापात्र का विवेक आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। एक दुर्बल व्यक्ति दुग्धपान करके वीर्यवान् और बलवान बन जाता है तो नागराज उसी दूध को पीकर विषरूप में परिणत कर विषवृद्धि करता है। गाय, भैंस सूकी और निरस घास खाकर भी मीठा दूध प्रदान करती है पृथ्वी कड़वी खाद पाकर भी मधुर इक्षुखण्ड और द्राक्षाएं समुत्पन्न करती हैं। वस्तु का उपयोग और परिणमन पात्र की योग्यता पर आधारित है।

शास्त्राध्ययन सभी व्यक्तियों के लिए श्रेयस्कर है। शास्त्र मानव के अन्तर चक्षु का उद्घाटन करता है, वह उन्हें विवेक दृष्टि प्रदान करता है पर अयोग्य/अपात्र और विपरीत बुद्धिवालों के लिए शास्त्र भी शस्त्र रूप में परिणत हो सकता है, इसलिए आचार्य देव वाचक ने नन्दीसूत्र में लिखा :

"सम्मदिट्ठीस्स सम्मसुयं, मिच्छदिट्ठीस्स मिच्छ सुयं ।"

अयोग्य पात्र होने पर शास्त्र अध्ययन से उनका भी अहित हो सकता है और दूसरों का भी अहित और अनर्थ होने की संभावना रहती है, इसलिए जैनाचार्यों ने शास्त्र अध्ययन के लिए पात्रापात्र का विवेक तथा योग्य-अयोग्य की मर्यादा का विधान किया है। बुद्धि की परिपक्वता, दृष्टि की निर्मलता और सर्वज्ञ वचनों के प्रति अनंत आस्था शास्त्राध्ययन को अमृत रूप में परिणत कर आत्मा के उत्कर्ष और परम श्रेयस् पथ की ओर गतिशील करने में समर्थ होती है।

यह ज्वलन्त सत्य है, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी वीतराग देव की वाणी सभी के लिए हितकर-कल्याणकर और जीवन में आलोक प्रदान करने वाली है। मोह का क्षय कर मोक्ष का द्वार खोलने वाली है, पर उसके लिए भी अनुकूल समय, बुद्धि की परिपक्वता और आस्था का दिव्य आलोक आवश्यक है, इसलिए वीतराग वाणी के स्वाध्याय, चिन्तन और मनन आदि के लिए भी अनेक प्रकार की मर्यादाएं और विधान प्रतिपादित किए गए हैं। दसवैकालिक, उत्तराध्ययन जैसे आचार-

हो सकेगा। प्रबुद्ध पाठकों की भावना को संलक्ष्य में रखते हुए चार छेद सूत्रों की प्रस्तावना में आवश्यक संशोधन/परिवर्तन कर पुस्तक के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। आशा ही नहीं अपितु दृढ़ विश्वास है, आगम अभ्यासी जन सम्यक् श्रद्धा और सम्यक् विवेकपूर्वक इनका अध्ययन कर जिनवाणी का रहस्य हृदयंगम करने में सक्षम हो सकेंगे।

परम श्रद्धेय सद्गुरूवर्य स्व. उपाध्यायश्री पुष्कर मुनिजी म. जो मेरे जीवन महल के निर्माता रहे हैं। छेद सूत्रों के वे हैं गहन अभ्यासी थे, जिनका तेजस्वी व्यक्तित्व मेरे जीवन निर्माण में नीव की ईंट के रूप में रहा है। चैत्र शुक्ला एकादशी को उदयपुर में संथारे के साथ जिस महागुरु का स्वर्गवास हो गया किन्तु उनकी विमल कीर्ति आज चहुं ओर चमक रही है। ऐसे महागुरु के असीम उपकार को मैं विस्मृत नहीं हो सकता, जिनके फलस्वरूप ही मैं लिखने में सक्षम हुआ हूँ। वंदन के साथ मैं इतना ही कहना चाहूँगा कि प्रस्तुत कृति में जो कुछ भी श्रेष्ठता है वह उसी महागुरु की असीम कृपा का सुफल है, उनकी स्मृति सदा ही मानस पटल पर चमकती रहे साथ ही महामहिम स्वर्गीय आचार्य सम्राट आनन्द ऋषि जी म. की असीम कृपा को भी भूल नहीं सकता, इन्हीं मंगलशब्दों के साथ पाठकों को यही प्रेरणा है कि वे इसका स्वाध्याय कर अपने जीवन को पावन बनाने का लक्ष्य रखें।

–आचार्य देवेन्द्र मुनि

शान्ति भवन
भीलवाड़ा
दि. २८/११/९३

विषयानुक्रम

१. छेद सूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन	१
२. दशाश्रुतस्कन्ध	१५
३. बृहत्कल्प सूत्र	४
४. व्यवहार सूत्र	३२
५. दशाश्रुतस्कन्ध का व्याख्या साहित्य	४१
६. बृहत्कल्प का व्याख्या साहित्य	४४
७. व्यवहार सूत्र का व्याख्या साहित्य	५३
८. निशीथ सूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन	५९
९. निशीथ सूत्र का व्याख्या साहित्य	१२४

आगम साहित्य से सम्बन्धित
आचार्यश्री देवेन्द्र मुनि जी म. की
महत्वपूर्ण कृतियाँ

१. कल्पसूत्र (तृतीय संस्करण)
(शुद्ध मूल पाठ एवं विवेचन)

२. भगवतीसूत्र : एक परिशीलन

३. शब्दों की गागर में आगम का सागर

४. छेदसूत्र : एक परिशीलन

५. जैन कथा साहित्य की विकास यात्रा

६. जैन साहित्य : मनन और मीमांसा
(समग्र जैन आगम एवं व्याख्या साहित्य का ऐतिहासिक पर्यालोचन)

छेदसूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन

आगम का महत्व :

वैदिक परम्परा में जो स्थान वेद का है, बौद्ध परम्परा में जो स्थान त्रिपिटक का है, ईसाई धर्म में जो स्थान बाईबिल का है, इस्लाम धर्म में जो स्थान कुरान का है, वही स्थान जैन परम्परा में आगम-साहित्य का है।

वेद तथा बौद्ध और जैन आगम-साहित्य में महत्वपूर्ण भेद यह रहा है कि वैदिक परम्परा के ऋषियों ने शब्दों की सुरक्षा पर अधिक बल दिया जबकि जैन और बौद्ध परम्परा में अर्थ पर अधिक बल दिया गया है। यही कारण है कि वेदों के शब्द प्रायः सुरक्षित रहे हैं और अर्थ की दृष्टि से वे एकमत स्थिर नहीं कर सके हैं। जैन और बौद्ध परम्परा में इससे बिल्कुल ही विपरीत रहा है। वहाँ अर्थ की सुरक्षा पर अधिक बल दिया गया है, शब्दों की अपेक्षा अर्थ अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। यही कारण है कि आगमों के पाठभेद तो मिलते हैं, पर उनमें प्रायः अर्थभेद नहीं है।

वेद के शब्दों में मंत्रों का आरोपण किया गया है जिससे शब्द तो सुरक्षित रहे, पर उसके अर्थ नष्ट हो गए। जैन आगम-साहित्य में मंत्र-शक्ति का आरोप न होने से अर्थ पूर्ण रूप से सुरक्षित रहा है।

वेद किसी एक ऋषि विशेष के विचारों का प्रतिनिधित्व नहीं करते, जब कि जैन गणिपिटक एवं बौद्ध त्रिपिटक क्रमशः भगवान् महावीर और तथागत बुद्ध की वाणी का प्रतिनिधित्व करते हैं। जैन आगमों के अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर रहे हैं और सूत्र के रचयिता गणधर हैं।

जैन और वैदिक परम्परा की संस्कृति पृथक्-पृथक् रही है। जैन संस्कृति अध्यात्मप्रधान है। जैन आगमों में अध्यात्म का स्वर प्रधान रूप से झंकृत रहा है, वेदों में लौकिकता का स्वर मुखरित रहा है। यहाँ पर यह बात भी विस्मरण नहीं होनी चाहिए कि आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व अणु-विज्ञान, जीव-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान आदि के सम्बन्ध में जो बातें जैन आगमों में बताई गई हैं, उन्हें पढ़कर आज का वैज्ञानिक भी विस्मित है। जैन आगम-साहित्य का इन अनेक दृष्टियों से भी महत्व रहा है।

कुछ समय पूर्व पाश्चात्य और पौर्वात्य विज्ञों की यह धारणा थी कि वेद ही आगम और त्रिपिटक के मूल स्रोत हैं, पर मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त ध्वंसावशेषों ने विज्ञों की धारणा में आमूलचूल परिवर्तन कर दिया है कि आर्यों के आगमन से पूर्व भारत में जो संस्कृति थी वह पूर्ण रूप से विकसित थी और वह श्रमण संस्कृति थी।

निष्पक्ष विचारकों ने यह सत्य-तथ्य एकमत से स्वीकार किया है कि श्रमण संस्कृति के प्रभाव से ही वैदिक परम्परा ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रतों को स्वीकार किया है। आज जो वैदिक परम्परा में अहिंसादि का वर्णन है वह जैन संस्कृति की देन है।[1]

आगम का अर्थ–चिन्तन

आगम शब्द के अनेक अर्थ हैं। उस पर मैंने विस्तार से चर्चा की है।

आचाराङ्ग में जानने के अर्थ में आगम शब्द का प्रयोग हुआ है। "**आगमेत्ता-आणवेज्जा**"[2] जानकर आज्ञा करे। **लाघवं आगममाणे**[3] लघुता को जानने वाला। व्यवहारभाष्य[4] में संघदासगणी ने आगम-व्यवहार का वर्णन करते हुए उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद किये हैं। प्रत्यक्ष में अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान हैं और परोक्ष में चतुर्दशपूर्व और उनसे न्यून श्रुतज्ञान का समावेश है। इससे भी स्पष्ट है कि जो ज्ञान है वह आगम है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकरों के द्वारा दिया गया उपदेश भी ज्ञान होने के कारण आगम है।

भगवती[5], अनुयोगद्वार[6] और स्थानाङ्ग[7] में आगम शब्द शास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वहाँ पर प्रमाण के चार भेद किये गये हैं–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम। आगम के भी लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद किए गए हैं। लौकिक आगम भारत, रामायण आदि हैं और लोकोत्तर आगम आचार, सूत्रकृत आदि हैं।[8]

---

१. संस्कृति के चार अध्याय : पृ. १२५ –रामधारीसिंह "दिनकर"
२. आचारांग १।५।४ ज्ञात्वा आज्ञापयेत्
३. आचारांग १।६।३ लाघवं आगमयन् अवबुध्यमानः।
४. व्यवहारभाष्य गा. २०१
५. भगवती ५।३।१९२
६. अनुयोगद्वार
७. स्थानाङ्ग ३३८, २२८
८. अनुयोगद्वार ४९-५०, पृ. ६८, श्री पुण्यविजयजी सम्पादित, महावीर विद्यालय, बम्बई द्वारा प्रकाशित

लोकोत्तर आगम के सुत्तागम, अत्थागम और तदुभयागम ये तीन भेद भी किए गए हैं।[1] एक अन्य दृष्टि से आगम के तीन प्रकार और मिलते हैं– आत्मागम, अनन्तरागम और परम्परागम।[2] आगम के अर्थरूप और सूत्ररूप ये दो प्रकार हैं। तीर्थंकर प्रभु अर्थरूप आगम का उपदेश करते हैं अतः अर्थरूप आगम तीर्थंकरों का आत्मामम कहलाता है, क्योंकि वह अर्थागम उनका स्वयं का है, दूसरों से उन्होंने नहीं लिया है, किन्तु वही अर्थागम गणधरों ने तीर्थंकरों से प्राप्त किया है। गणधर और तीर्थंकर के बीच किसी तीसरे व्यक्ति का व्यवधान नहीं है एतदर्थ गणधरों के लिए वह अर्थागम अनन्तरागम कहलाता है, किन्तु उस अर्थागम के आधार से स्वयं गणधर सूत्ररूप रचना करते हैं।[3] इसलिए सूत्रागम गणधरों के लिए आत्मागम कहलाता है। गणधरों के साक्षात् शिष्यों को गणधरों से सूत्रागम सीधा ही प्राप्त होता है, उनके मध्य में कोई भी व्यवधान नहीं होता। इसलिए उन शिष्यों के लिए सूत्रागम अनन्तरागम है, किन्तु अर्थागम तो परम्परागम ही है। क्योंकि वह उन्होंने अपने धर्मगुरु गणधरों से प्राप्त किया हैं। किन्तु यह गणधरों को भी आत्मागम नहीं था। उन्होंने तीर्थंकरों से प्राप्त किया था। गणधरों के प्रशिष्य और उनकी परम्परा में होने वाले अन्य शिष्य और प्रशिष्यों के लिए सूत्र और अर्थ परम्परागम हैं।[4]

श्रमण भगवान् महावीर के पावन प्रवचनों का सूत्र रूप में संकलन-आकलन गणधरों ने किया, वह अंग-साहित्य के नाम से विश्रुत हुआ। उसके आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, भगवती, ज्ञाता, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विपाक और दृष्टिवाद ये बारह विभाग हैं। दृष्टिवाद का एक विभाग पूर्व साहित्य है।

दृष्टिवाद

आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार गणधरों ने अर्हद्भाषित मातृकापदों के आधार

---

१. अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा–सुत्तागमे य अत्थागमे य तदुभयागमे य।
–अनुयोगद्वार सूत्र ४७०, पृ. १७९

२. अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा–अत्तागमे, अणंतरागमे परंपरागमे य।
–अनुयोगद्वार सूत्र ४७०, पृ. १७९

३. (क) श्रीचन्द्रीया संग्रहणी गा. ११२
(ख) आवश्यकनिर्युक्ति गा. ९२

४. तित्थगराणं अत्थस्स अत्तागमे, गणहराणं सुत्तस्स अत्तागमे, अत्थस्स अणंतरागमे, गणहरसीसाणं सुत्तस्स अणंतरागमे अत्थस्स परंपरागमे तेणं परं सुत्तस्स वि अत्थस्स वि णो अत्तागमे णो अणंतरागमे, परम्परागमे। –अनुयोगद्वार सूत्र ४७०, पृ. १७९

से चतुर्दश शास्त्रों का निर्माण किया, जिसमें सम्पूर्ण श्रुत की अवतारणा की गई।[1] ये चतुर्दश शास्त्र चतुर्दश पूर्व के नाम से विश्रुत हुए। इन पूर्वों की विश्लेषण-पद्धति अत्यधिक क्लिष्ट थी अतः जो महान् प्रतिभासम्पन्न साधक थे उन्हीं के लिए वह पूर्व साहित्य ग्राह्य था। जो साधारण प्रतिभासम्पन्न साधक थे उनके लिए एवं स्त्रियों के उपकारार्थ द्वादशांगी की रचना की गई।

आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने लिखा है कि दृष्टिवाद का अध्ययन-पठन स्त्रियों के लिए वर्ज्य था। क्योंकि स्त्रियाँ तुच्छ स्वभाव की होती हैं, उन्हें शीघ्र ही गर्व आता है। उनकी इन्द्रियाँ चंचल होती हैं। उनकी मेधा-शक्ति पुरुषों की अपेक्षा दुर्बल होती है एतदर्थ उत्थान-समुत्थान प्रभृति अतिशय या चमत्कारयुक्त अध्ययन और दृष्टिवाद का ज्ञान उनके लिए नहीं है।[2]

मलधारी आचार्य हेमचन्द्र ने प्रस्तुत विषय का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि स्त्रियों को यदि किसी तरह दृष्टिवाद का अध्ययन करा दिया जाए तो तुच्छ प्रकृति के कारण "मैं दृष्टिवाद की अध्येता हूँ" इस प्रकार मन में अहंकार आकर पुरुष के परिभव-तिरस्कार प्रभृति में प्रवृत्त हो जाये जिससे उसकी दुर्गति हो सकती है। एतदर्थ दया के अवतार महान् परोपकारी तीर्थंकरों ने उत्थान, समुत्थान आदि अतिशय चमत्कारयुक्त अध्ययन एवं दृष्टिवाद के अध्ययन का स्त्रियों के लिए निषेध किया।[3] बृहत्कल्पनिर्युक्ति में भी यही बात आई है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने और मलधारी हेमचन्द्र ने स्त्रियों की प्रवृत्ति की विकृति व मेधा की दुर्बलता के सम्बन्ध में जो लिखा है वह पूर्ण संगत नहीं लगता है। वे बातें पुरुष में भी सम्भव हैं। अनेक स्त्रियाँ पुरुषों से भी अधिक प्रतिभासम्पन्न व गम्भीर होती हैं। यह शास्त्र में आये हुए वर्णनों से भी स्पष्ट है।

---

१. धम्मोवाओ पवयणमहवा पुव्वाई देसया तस्स।
सव्वजिणाण गणहरा, चोद्दसपुव्वा उ ते तस्स॥
सामाइयाइया वा वयजीवनिकाय भावणा पढमं।
एसो धम्मोवादो जिणेहिं सव्वेहिं उवइट्ठो॥ —आवश्यकनिर्युक्ति गा. २९२-२९३

२. तुच्छा गारवबहुला चलिंदिया दुब्बला धिइए य।
इति आइसेसज्झयणा भूयावाओ य नो तासिं॥

३. .....इह विचित्रा जगति प्राणिनः तत्र केचिद् दुर्मेधसः ते पूर्वाणि नाध्येतुमीशते, पूर्वाणामति-गम्भीरार्थत्वात् तेषां च दुर्मेधत्वात् स्त्रीणां पूर्वाध्ययनानाधिकार एव तासां तुच्छत्वादि दोषबहुलत्वात्॥ —विशेषावश्यकभाष्य गाथा ५५ की व्याख्या पृ. ४८
प्रकाशक—आगमोदय समिति बम्बई

जब स्त्री अध्यात्म-साधना का सर्वोच्च पद तीर्थंकर नामकर्म का अनुबन्ध कर सकती है, केवलज्ञान प्राप्त कर सकती है तब दृष्टिवाद के अध्ययनार्थ जिन दुर्बलताओं की ओर संकेत किया गया है और जिन दुर्बलताओं के कारण स्त्रियों को दृष्टिवाद की अधिकारिणी नहीं माना गया है, उन पर विज्ञों को तटस्थ दृष्टि से गम्भीर चिन्तन करना चाहिए।

मेरी दृष्टि से पूर्व-साहित्य का ज्ञान लब्ध्यात्मक था। उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए केवल अध्ययन और पढ़ना ही पर्याप्त नहीं था, कुछ विशिष्ट साधनाएँ भी साधक को अनिवार्य रूप से करनी पड़ती थीं। उन साधनाओं के लिए उस साधक को कुछ समय तक एकान्त-शान्त स्थान में एकाकी भी रहना आवश्यक होता था। स्त्रियों का शारीरिक संस्थान इस प्रकार का नहीं है कि वे एकान्त में एकाकी रहकर दीर्घ साधना कर सकें। इस दृष्टि से स्त्रियों के लिए दृष्टिवाद के अध्ययन का निषेध किया गया हो। यह अधिक तर्कसंगत व युक्ति-युक्त है। मेरी दृष्टि से यही कारण स्त्रियों के आहारकशरीर की अनुपलब्धि आदि का भी है।

अंग एवं अंगबाह्य आगम

गणधरों द्वारा संकलित अंग ग्रन्थों के आधार से अन्य स्थविरों ने बाद में जिन ग्रन्थों की रचना की, वे अंगबाह्य कहलाये। अंग और अंगबाह्य ये आगम ग्रन्थ ही भगवान् महावीर के शासन के आधारभूत स्तम्भ हैं। जैन आचार की कुञ्जी हैं, जैन विचार की अद्वितीय निधि हैं, जैन संस्कृति की गरिमा हैं और जैन साहित्य की महिमा हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि अंगबाह्य ग्रन्थों को आगम में सम्मिलित करने की प्रक्रिया श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में एक समान नहीं रही है। दिगम्बर परंपरा में अंगबाह्य आगमों की संख्या बहुत ही स्वल्प है किन्तु श्वेताम्बरों में यह परम्परा लम्बे समय तक चलती रही जिससे अंगबाह्य ग्रन्थों की संख्या अधिक है। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है कि आवश्यक के विविध अध्ययन, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और निशीथ आदि दोनों ही परम्पराओं में समान रूप से मान्य रहे हैं।

श्वेताम्बर विद्वानों की यह मान्यता है कि आगम साहित्य का मौलिक स्वरूप बहुत बड़े परिमाण में लुप्त हो गया है पर पूर्ण रूप से नहीं, अब भी वह शेष है। अंगों और अंगबाह्य आगमों की जो तीन बार संकलना हुई उससे उसके मौलिक रूप में कुछ अवश्य ही परिवर्तन हुआ है। उत्तरवर्ती घटनाओं और विचारणाओं का समावेश भी किया गया है। जैसे–स्थानांग में सात निह्नव और नवगणों का वर्णन। प्रश्नव्याकरण में जिस विषय का संकेत किया गया है वह वर्तमान में

उपलब्ध नहीं है, तथापि आगमों का अधिकांश भाग मौलिक है, सर्वथा मौलिक है। भाषा व रचना शैली की दृष्टि से बहुत ही प्राचीन है। वर्तमान भाषाशास्त्री आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को और सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को ढाई हजार वर्ष प्राचीन बतलाते हैं। स्थानांग, भगवती, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, निशीथ और कल्प को भी वे प्राचीन मानते हैं। इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है कि आगम का मूल आज भी सुरक्षित है।

दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से अंग साहित्य लुप्त हो चुका है। अतः उन्होंने नवीन ग्रन्थों का सृजन किया और उन्हें आगमों की तरह प्रमाणभूत माना। श्वेताम्बरों के आगम साहित्य को दिगम्बर परम्परा प्रमाणभूत नहीं मानती है तो दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों को श्वेताम्बर परम्परा मान्य नहीं करती है; पर जब मैं तटस्थ दृष्टि से चिन्तन करता हूँ तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि दोनों ही परम्पराओं के आगम ग्रन्थों में मौलिक दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों के आगम ग्रन्थों में तत्त्व विचार, जीवविचार, कर्मविचार, लोकविचार, ज्ञानविचार समान हैं। दार्शनिक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। आचार परम्परा की दृष्टि से भी चिन्तन करें तो वस्त्र के उपयोग के सम्बन्ध में कुछ मतभेद होने पर भी विशेष अन्तर नहीं रहा। दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में नग्नत्व पर अत्यधिक बल दिया गया, किन्तु व्यवहार में नग्न मुनियों की संख्या बहुत ही कम रही और दिगम्बर भट्टारक आदि की संख्या उनसे बहुत अधिक रही। श्वेताम्बर आगम साहित्य में जिनकल्प को स्थविरकल्प से अधिक महत्त्व दिया गया किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से आर्य जम्बू के पश्चात् जिनकल्प का निषेध कर दिया गया।

दिगम्बर परम्परा में स्त्री के निर्वाण का निषेध किया है किन्तु दिगम्बर परम्परा मान्य षट्खण्डागम में मनुष्य-स्त्रियाँ सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत-सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत गुणस्थानों में नियम से पर्याप्तक होती हैं।[1] इसमें "संजद" शब्द को सम्पादकों ने टिप्पण में दिया है, जिसका सारांश यह है कि मनुष्य-स्त्री को "संयत" गुणस्थान नहीं हो सकता है और संयत गुणस्थान होने पर स्त्री मोक्ष में जा सकती है। प्रस्तुत प्रश्न को लेकर दिगम्बर समाज में प्रबल विरोध का वातावरण समुत्पन्न हुआ तब ग्रन्थ के सम्पादक पं. हीरालालजी जैन आदि ने पुनः उसका स्पष्टीकरण "षट्खण्डागम के तृतीय भाग की

---

१. सम्मामिच्छाइट्ठि असंजदसम्माइट्ठि संजदासंजद (अत्र संजद इति पाठशेषः प्रतिभाति) ट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ।

—षट्खण्डागम, भाग १ सूत्र ९३ पृ. ३३२, प्रका.—सेठ लक्ष्मीचंद शिवराय जैन साहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय अमरावती (बरार) सन् १९३९

प्रस्तावना" में किया किन्तु जब विज्ञों ने मूडविद्री (कर्णाटक) में षट्खण्डागम की मूल प्रति देखी तो उसमें भी "संजद" शब्द मिला है।

वट्टकेरस्वामी विरचित मूलाचार में आर्यिकाओं के आचार का विश्लेषण करते हुए कहा है जो साधु अथवा आर्यिका इस प्रकार आचरण करते हैं वे जगत् में पूजा, यश व सुख को पाकर मोक्ष को पाते हैं।[१] इसमें भी आर्यिकाओं के मोक्ष में जाने का उल्लेख है।

किन्तु बाद में टीकाकारों ने अपनी टीकाओं में स्त्री निर्वाण का निषेध किया है। आचार के जितने भी नियम हैं उनमें महत्त्वपूर्ण नियम उद्दिष्ट त्याग का है, जिसका दोनों ही परम्पराओं में समान रूप से महत्त्व रहा है।

श्वेताम्बर आगम साहित्य में और उसके व्याख्या साहित्य मे आचार सम्बन्धी अपवाद मार्ग का विशेष वर्णन मिलता है किन्तु दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में अपवाद का वर्णन नहीं है, पर गहराई से चिन्तन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि दिगम्बर परम्परा में भी अपवाद रहे होंगे, यदि प्रारम्भ से ही अपवाद नहीं होते तो अंगबाह्य सूची में निशीथ का नाम कैसे आता? श्वेताम्बर परम्परा में अपवादों को सूत्रबद्ध करके भी उसका अध्ययन प्रत्येक व्यक्ति के लिए निषिद्ध कर दिया गया। विशेष योग्यता वाला श्रमण ही उसके पढ़ने का अधिकारी माना गया। श्वेताम्बर श्रमणों की संख्या प्रारम्भ से ही अत्यधिक रही जिससे समाज की सुव्यवस्था हेतु छेदसूत्रों का निर्माण हुआ। छेदसूत्रों में श्रमणाचार के निगूढ़ रहस्य और सूक्ष्म क्रिया-कलाप को समझाया गया है। श्रमण के जीवन में अनेकानेक अनुकूल और प्रतिकूल प्रसंग समुपस्थित होते हैं, ऐसी विषम परिस्थिति में किस प्रकार निर्णय लेना चाहिए यह बात छेदसूत्रों में बताई गई है। आचार सम्बन्धी जैसा नियम और उपनियमों का वर्णन जैन परम्परा में छेदसूत्रों में उपलब्ध होता है वैसा ही वर्णन बौद्ध परम्परा में विनयपिटक में मिलता है और वैदिक परम्परा के कल्पसूत्र, श्रोतसूत्र और गृह्यसूत्रों में मिलता है। दिगम्बर परम्परा में भी छेदसूत्र बने थे पर आज वे उपलब्ध नहीं हैं।

छेदसूत्र : एक चिन्तन

छेदसूत्र का नामोल्लेख नन्दीसूत्र में नहीं हुआ है। "छेदसूत्र" का सबसे प्रथम

---

१. एवं विधाणचरियं चरितं जे साधवो य अज्जाओ।
ते जगपुज्जं कित्तिं सुहं च लद्धूण सिज्झंति।। —मूलाचार ४/१९६, पृ. १६८

प्रयोग आवश्यकनिर्युक्ति में हुआ है।[1] उसके पश्चात् विशेषावश्यकभाष्य[2] और निशीथभाष्य[3] आदि में भी यह शब्द व्यवहृत हुआ है। तात्पर्य यह है कि हम आवश्यकनिर्युक्ति को यदि ज्योतिर्विद वराहमिहिर के भ्राता द्वितीय भद्रबाहु की कृति मानते हैं तो वे विक्रम की छठी शताब्दी में हुए हैं।[4] उन्होंने इसका प्रयोग किया है। स्पष्ट है कि "छेदसुत्त' शब्द का प्रयोग "मूलसुत्त" से पहले हुआ है।

अमुक आगमों को "छेदसूत्र" यह अभिधा क्यों दी गई? इस प्रश्न का उत्तर प्राचीन ग्रन्थों में सीधा और स्पष्ट प्राप्त नहीं है। हाँ, यह स्पष्ट है कि जिन सूत्रों को "छेदसुत्त" कहा गया है वे प्रायश्चित्तसूत्र हैं।

स्थानाङ्ग में श्रमणों के लिए पाँच चारित्रों का उल्लेख है–

(१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापनीय, (३) परिहारविशुद्धि, (४) सूक्ष्मसंपराय, (५) यथाख्यात।[5] इनमें से वर्तमान में तीन अन्तिम चारित्र विच्छिन्न हो गये हैं। सामायिक चारित्र स्वल्पकालीन होता है, छेदोपस्थापनिक चारित्र ही जीवनपर्यन्त रहता है। प्रायश्चित्त का सम्बन्ध भी इसी चारित्र से है। संभवतः इसी चारित्र को लक्ष्य में रखकर प्रायश्चित्त सूत्रों को छेदसूत्र की संज्ञा दी गई हो।

मलयगिरि की आवश्यकवृत्ति[6] में छेदसूत्रों के लिए पद-विभाग, समाचारी शब्द का प्रयोग हुआ है। पद-विभाग और छेद ये दोनों शब्द रखे गये हैं। क्योंकि छेदसूत्रों में एक सूत्र का दूसरे सूत्र से सम्बन्ध नहीं है। सभी सूत्र स्वतंत्र हैं। उनकी व्याख्या भी छेद-दृष्टि से या विभाग-दृष्टि से की जाती है।

---

१. जं च महाकप्पसुयं, जाणि असेसाणि छेअसुत्ताणि।
चरणकरणाणुओगो त्ति कालियत्थे उवगयाणि॥ –आवश्यकनिर्युक्ति ७७७

२. वही –विशेषावश्यकभाष्य २२६५

३. (क) छेदसुत्तणिसीहादी, अत्थो य गतो त्ति छेदसुत्तादी।
मंतनिमित्तोसहिपाहुडे, य गाहेंति अण्णाय॥ –निशीथभाष्य ५९४७
(ख) केनोनिकल लिटरेचर पृ. ३६ भी देखिए।

४. जैनागमधर और प्राकृत वाङ्मय–लेखक पुण्यविजयजी, –मुनि हजारीमल स्मृति ग्रन्थ, पृ. ७१८

५. (क) स्थानांगसूत्र ५, उद्देशक २, सूत्र ४२८
(ख) विशेषावश्यकभाष्य गा. १२६०-१२७०

६. पदविभाग, समाचारी छेदसूत्राणि। –आवश्यकनिर्युक्ति ६६५, मलयगिरिवृत्ति

दशाश्रुतस्कन्ध, निशीथ, व्यवहार और बृहत्कल्प–ये सूत्र नौवें प्रत्याख्यान पूर्व से उद्धृत किये गये हैं,[१] उससे छिन्न अर्थात् पृथक् करने से उन्हें छेदसूत्र की संज्ञा दी गई हो, यह भी सम्भव है।[२]

छेदसूत्रों को उत्तम श्रुत माना गया है। भाष्यकार भी इस कथन का समर्थन करते हैं।[३] चूर्णिकार जिनदास महत्तर स्वयं यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि छेदसूत्र उत्तम क्यों हैं? फिर स्वयं ही उसका समाधान देते हैं कि छेदसूत्र में प्रायश्चित्तविधि का निरूपण है, उससे चारित्र की विशुद्धि होती है, एतदर्थ यह श्रुत उत्तम माना गया है।[४] श्रमण-जीवन की साधना का सर्वाङ्गीण विवेचन छेदसूत्रों में ही उपलब्ध होता है। साधक की क्या मर्यादा है, उसका क्या कर्त्तव्य है? इत्यादि प्रश्नों पर उनमें चिन्तन किया गया है। जीवन में से असंयम के अंश को काटकर पृथक् करना, साधना में से दोषजन्य मलिनता को निकालकर साफ करना, भूलों से बचने के लिए पूर्ण सावधान रहना, भूल हो जाने पर प्रायश्चित्त ग्रहण कर उसका परिमार्जन करना, यह सब छेदसूत्रों का कार्य है।

समाचारीशतक में समयसुन्दरगणी ने छेदसूत्रों की संख्या छह बतलाई है[५]–

(१) महानिशीथ, (२) दशाश्रुतस्कंध, (३) व्यवहार, (४) बृहत्कल्प, (५) निशीथ, (६) जीतकल्प।

जीतकल्प को छोड़कर शेष पांच सूत्रों के नाम नन्दीसूत्र में भी आये हैं।[६] जीतकल्प जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण की कृति है, एतदर्थ उसे आगम की कोटि में स्थान नहीं दिया जा सकता। महानिशीथ का जो वर्तमान संस्करण है, वह आचार्य हरिभद्र (वि. ८ वीं शताब्दी) के द्वारा पुनरुद्धार किया हुआ है। उसका मूल संस्करण तो उसके पूर्व ही दीमकों ने उदरस्थ कर लिया था। अतः वर्तमान में उपलब्ध महानिशीथ भी आगम की कोटि में नहीं आता। इस प्रकार मौलिक छेदसूत्र चार ही हैं–(१) दशाश्रुतस्कन्ध, (२) व्यवहार, (३) बृहत्कल्प और (४) निशीथ।

---

१. कतरं सुत्तं? दसाउकप्पो ववहारो य। कतरातो उद्धृतं? उच्यते पच्चक्खाण पुव्वाओ। – दशाश्रुतस्कंधचूर्णि, पत्र २

२. निशीथ १९।१७

३. छेयसुयमुत्तमसुयं। –निशीथभाष्य, ६१४८

४. छेयसुयं कम्हा उत्तमसुत्तं? भण्णामि–जम्हा एत्थं सपायच्छित्तो विधी भण्णति, जम्हा एतेणच्चरणविसुद्धं करेति, तम्हा तं उत्तमसुत्तं। –निशीथभाष्य ६१८४ की चूर्णि

५. समाचारीशतक, आगम–स्थापनाधिकार।

६. कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा–दसाओ, कप्पो, ववहारो, निसीहं, महानिसीहं। –नन्दीसूत्र ७७

निर्यूहित आगम

जैन आगमों की रचनाएँ दो प्रकार से हुई हैं–(१) कृत, (२) निर्यूहित। जिन आगमों का निर्माण स्वतंत्र रूप से हुआ है, वे आगम कृत कहलाते हैं। जैसे गणधरों के द्वारा द्वादशांगी की रचना की गई है और भिन्न-भिन्न स्थविरों के द्वारा उपांग साहित्य का निर्माण किया गया है, वे सब कृत आगम हैं। निर्यूहित आगम ये माने गये हैं[१]–

(१) आचारचूला
(२) दशवैकालिक
(३) निशीथ
(४) दशाश्रुतस्कन्ध
(५) बृहत्कल्प
(६) व्यवहार
(७) उत्तराध्ययन का परीषह अध्ययन।

आचारचूला–यह चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु के द्वारा निर्यूहण की गई है, यह बात आज अन्वेषणा के द्वारा स्पष्ट हो चुकी है। आचारांग से आचारचूला की रचना-शैली सर्वथा पृथक् है। उसकी रचना आचारांग के बाद हुई है। आचारांग-निर्युक्तिकार ने उसको स्थविरकृत माना है।[२] स्थविर का अर्थ चूर्णिकार ने गणधर किया है[३] और वृत्तिकार ने चतुर्दशपूर्वी किया है[४] किन्तु उनमें स्थविर का नाम नहीं आया है। विज्ञों का अभिमत है कि यहाँ पर स्थविर शब्द का प्रयोग चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु के लिए ही हुआ है।

आचारांग के गम्भीर अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए "आचारचूला" का निर्माण हुआ है। निर्युक्तिकार ने पांचों चूलाओं के निर्यूहणस्थलों का संकेत किया है।[५]

---

१. आगमयुग का जैनदर्शन, पृ. २१-२२, पं. दलसुखभाई मालवणिया,
–प्रकाशक सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

२. थेरेहिऽणुग्गहट्ठा, सीसहिअं होउ पागउत्थं च।
आयाराओ अत्थो, आयारंगेसु पविभत्तो॥
–आचारांगनिर्युक्ति गा. २८७

३. थेरे गणधरा।
–आचारांगचूर्णि, पृ. ३२६

४. "स्थविरैः" श्रुतवृद्धैश्चतुर्दशपूर्वविद्भिः।

५. बिइअस्स य पंचमए, अट्ठमगस्स बिइयंमि उद्देसे।
भणिओ पिंडो सिज्जा, वत्थं पाउग्गहो चेव॥
पंचमगस्स चउत्थे इरिया, वण्णिज्जई समासेणं।
छट्ठस्स य पंचमए, भासज्जायं वियाणाहि॥
सत्तिक्कगाणि सत्तवि, निज्जूढाइं महापरिन्नाओ।
सत्थपरिन्ना भावण, निज्जूढाओ धुयविमुत्ती॥
आयारपकप्पो पुण, पच्चक्खाणस्स तइयवत्थूओ।
आयारनामधिज्जा, वीसइमा पाहुडच्छेया॥
–आचारांगनिर्युक्ति गा. २८८-२९१

दशवैकालिक चतुर्दशपूर्वी शय्यंभव के द्वारा विभिन्न पूर्वों से निर्यूहण किया गया है। जैसे–चतुर्थ अध्ययन आत्मप्रवाद पूर्व से, पंचम अध्ययन कर्मप्रवाद पूर्व से, सप्तम अध्ययन सत्यप्रवाद पूर्व से और शेष अध्ययन प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु से उद्धृत किये गये हैं।[1]

द्वितीय अभिमतानुसार दशवैकालिक गणिपिटक द्वादशांगी से उद्धृत है।[2]

निशीथ का निर्यूहण प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व से हुआ है। प्रत्याख्यान पूर्व के बीस वस्तु अर्थात् अर्थाधिकार हैं। तृतीय वस्तु का नाम आचार है। उसके भी बीस प्राभृतच्छेद अर्थात् उपविभाग हैं। बीसवें प्राभृतच्छेद से निशीथ का निर्यूहण किया गया है।[3]

पंचकल्पचूर्णि के अनुसार निशीथ के निर्यूहक भद्रबाहुस्वामी हैं।[4] इस मत का समर्थन आगमप्रभावक मुनिश्री पुण्यविजयजी ने भी किया है।[5]

दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार, ये तीनों आगम चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहुस्वामी के द्वारा प्रत्याख्यानपूर्व से निर्यूढ हैं।[6]

दशाश्रुतस्कन्ध की निर्युक्ति के मन्तव्यानुसार वर्तमान में उपलब्ध दशाश्रुतस्कन्ध अंगप्रविष्ट आगमों में जो दशाएँ प्राप्त हैं, उनसे लघु हैं। इनका

---

१. आयप्पवाय पुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपत्तीओ।
कम्मप्पवाय पुव्वा पिंडस्स उ एसणा तिविधा॥
सच्चप्पवाय पुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ। –दशवैकालिकनिर्युक्ति गा. १६-१७

२. बीओऽवि अ आएसो, गणिपिडगाओ दुवालसंगाओ।
एअं किर णिज्जूढं मणगस्स अणुग्गहट्ठाए। –दशवैकालिकनिर्युक्ति गा. १८

३. णिसीहं णवमा पुव्वा पच्चक्खाणस्स ततियवत्थूओ।
आयार नामधेज्जा, वीसतिमा पाहुडच्छेदा॥ –निशीथभाष्य ६५००

४. तेण भगवता आयारपकप्प-दसा-कप्प-ववहारा य नवमपुव्वनीसंदभूता निज्जूढा।
–पंचकल्पचूर्णि, पत्र १ (लिखित)

५. बृहत्कल्पसूत्र, भाग ६, प्रस्तावना पृ. ३

६ वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरिय सयलसुयणाणिं।
सो सुत्तस्स कारगमिसं (णं) दसासु कप्पे य ववहारे।
–दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति गा. १, पत्र १

निर्यूहण शिष्यों के अनुग्रहार्थ स्थविरों ने किया था। चूर्णि[1] के अनुसार स्थविर का नाम भद्रबाहु है।[2]

उत्तराध्ययन का दूसरा अध्ययन भी अंग-प्रभव माना जाता है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु के मतानुसार वह कर्मप्रवादपूर्व के सत्रहवें प्राभृत से उद्धृत है।[3]

इनके अतिरिक्त आगमेतर साहित्य में विशेषतः कर्मसाहित्य का बहुत-सा भाग पूर्वोद्धृत माना जाता है।

निर्यूहित कृतियों के सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण करना आवश्यक है कि उसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर हैं, सूत्र के रचयिता गणधर हैं और जो संक्षेप में उसका वर्तमान रूप उपलब्ध है उसके कर्ता वही हैं जिन पर जिनका नाम अंकित या प्रसिद्ध है। जैसे दशवैकालिक के शय्यंभव; कल्प, व्यवहार, निशीथ और दशाश्रुतस्कंध के रचयिता भद्रबाहु हैं।

जैन अंग-साहित्य की संख्या के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर[4] सभी एकमत हैं। सभी अंगों को बारह स्वीकार करते हैं। परन्तु अंगबाह्य आगमों की संख्या के सम्बन्ध में यह बात नहीं है, उनके विभिन्न मत है। यही कारण है कि आगमों की संख्या कितने ही ८४ मानते हैं, कोई कोई ४५ मानते हैं और कितने ही ३२ मानते हैं।

नन्दीसूत्र में आगमों की जो सूची दी गई है, वे सभी आगम वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज मूल आगमों के साथ निर्युक्तियों को मिलाकर ४५ आगम मानता है और कोई ८४ मानते हैं। स्थानकवासी और तेरापंथी परम्परा बत्तीस को ही प्रमाणभूत मानती है। दिगम्बर समाज की मान्यता है कि सभी आगम विच्छिन्न हो गये हैं।

---

१. डहरीओ उ इमाओ, अज्झयणेसु महईओ अंगेसु।
छसु नायादीएसुं, वत्थुविभूसावसाणमिव॥
डहरीओ उ इमाओ, निज्जूढाओ अणुग्गहट्ठाए।
थेरेहिं तु दसाओ, जो दसा जाणओ जीवो॥ —दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति ५-६

२. दशाश्रुतस्कंधचूर्णि।

३. कम्मप्पवायपुव्वे सत्तरसे पाहुडंमि जं सुत्तं।
सणयं सोदाहरणं तं चेव इहंपि णायव्वं॥ —उत्तराध्ययननिर्युक्ति गा. ६९

४. (क) तत्त्वार्थसूत्र १-२०, श्रुतसागरीय वृत्ति।
(ख) षट्खण्डागम (धवला टीका) खण्ड १ पृ. ६ बारह अंगविज्जा।

दशाश्रुतस्कन्ध

दशाश्रुतस्कंध छेदसूत्र है। छेदसूत्र के दो कार्य हैं–दोषों से बचाना और प्रमादवश लगे हुए दोषों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का विधान करना। इसमें दोषों से बचने का विधान है। ठाणांग में इसका अपरनाम आचार दशा प्राप्त होता है। दशाश्रुतस्कंध में दश अध्ययन हैं, इसलिए इसका नाम दशाश्रुतस्कंध है। दशाश्रुतस्कंध का १८३० अनुष्टुप श्लोक प्रमाण उपलब्ध पाठ है। २१६ गद्यसूत्र हैं। ५२ पद्यसूत्र हैं।

प्रथम उद्देशक में २० असमाधिस्थानों का वर्णन है। जिस सत्कार्य के करने से चित्त में शांति हो, आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्षमार्ग में रहे, वह समाधि है और जिस कार्य से चित्त में अप्रशस्त एवं अशांत भाव हों, ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि मोक्षमार्ग से आत्मा भ्रष्ट हो, वह असमाधि है। असमाधि के बीस प्रकार हैं। जैसे–जल्दी-जल्दी चलना, बिना पूंजे रात्रि में चलना, बिना उपयोग सब दैहिक कार्य करना, गुरुजनों का अपमान, निन्दा आदि करना। इन कार्यों के आचरण से स्वयं व अन्य जीवों को असमाधिभाव उत्पन्न होता है। साधक की आत्मा दूषित होती है। उसका पवित्र चारित्र मलिन होता है। अतः उसे असमाधिस्थान कहा है।[1]

द्वितीय उद्देशक में २१ शबल दोषों का वर्णन किया गया है, जिन कार्यों के करने से चारित्र की निर्मलता नष्ट हो जाती है। चारित्र मलक्लिन्न होने से वह कर्बुर हो जाता है इसलिए उन्हें शबलदोष कहते हैं।[2] "शबलं कर्बुरं चित्रम्" शबल का अर्थ चित्रवर्णा है। हस्तमैथुन, स्त्री-स्पर्श आदि, रात्रि में भोजन लेना और करना, आधाकर्मी, औद्देशिक आहार का लेना, प्रत्याख्यानभंग, मायास्थान का सेवन करना आदि-आदि ये शबल दोष हैं। उत्तरगुणों में अतिक्रमादि चार

---

१. समाधानं समाधिः–चेतसः स्वास्थ्यं, मोक्षमार्गेऽवस्थितिरित्यर्थः न समाधिरसमाधिस्तस्य स्थानानि–आश्रया भेदाः पर्याया असमाधि-स्थानानि। –आचार्य हरिभद्र

२. शबलं–कर्बुरं चारित्रं यैः क्रियाविशेषैर्भवति ते शबलास्तद्योगात्साधवो पि।
–अभयदेवकृत समवायांगटीका

दोषों का एवं मूलगुणों में अनाचार के अतिरिक्त तीन दोषों का सेवन करने से चारित्र शबल होता है।

तीसरे उद्देशक में ३३ प्रकार की आशातनाओं का वर्णन है। जैनाचार्यों ने आशातना शब्द की निरुक्ति अत्यन्त सुन्दर की है। सम्यग्दर्शनादि आध्यात्मिक गुणों की प्राप्ति को आय कहते हैं और शातना का अर्थ खण्डन है। सद्गुरुदेव आदि महान् पुरुषों का अपमान करने से सम्यग्दर्शनादि सद्गुणों की आशातना-खण्डना होती है।[1]

शिष्य का गुरु के आगे, समश्रेणी में, अत्यन्त समीप में गमन करना, खड़ा होना, बैठना आदि, गुरु से पूर्व किसी से सम्भाषण करना, गुरु के वचनों की जानकर अवहेलना करना, भिक्षा से लौटने पर आलोचना न करना, आदि-आदि आशातना के तेतीस प्रकार हैं।

चतुर्थ उद्देशक में ८ प्रकार की गणिसम्पदाओं का वर्णन है। श्रमणों के समुदाय को गण कहते हैं। गण का अधिपति गणी होता है। गणिसम्पदा के आठ प्रकार हैं–आचारसम्पदा, श्रुतसम्पदा, शरीरसम्पदा, वचनसम्पदा, वाचनासम्पदा, मतिसम्पदा, प्रयोगमतिसम्पदा और संग्रहपरिज्ञासम्पदा।

आचारसम्पदा के संयम में ध्रुवयोगयुक्त होना, अहंकाररहित होना, अनियतवृत्ति होना, वृद्धस्वभावी (अचंचलस्वभावी)–ये चार प्रकार हैं।

श्रुतसम्पदा के बहुश्रुतता, परिचितश्रुतता, विचित्रश्रुतता, घोषविशुद्धिकारकता–ये चार प्रकार हैं।

शरीरसम्पदा के शरीर की लम्बाई व चौड़ाई का सम्यक् अनुपात, अलज्जास्पद शरीर, स्थिर संगठन, प्रतिपूर्ण इन्द्रियता–ये चार भेद हैं।

वचनसम्पदा के आदेयवचन–ग्रहण करने योग्य वाणी, मधुर वचन, अनिश्रित–प्रतिबन्धरहित, असंदिग्ध वचन–ये चार प्रकार हैं।

वाचनासम्पदा के विचारपूर्वक वाच्यविषय का उद्देश निर्देश करना, विचारपूर्वक वाचन करना, उपयुक्त विषय का ही विवेचन करना, अर्थ का सुनिश्चित रूप से निरूपण करना–ये चार भेद हैं।

मतिसम्पदा के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा–ये चार प्रकार हैं।

---

१. आयः–सम्यग्दर्शनाद्यवाप्तिलक्षणस्तस्य शातना-खण्डना निरुक्तादाशातना।

–आचार्य अभयदेवकृत समवायांगटीका

अवग्रह मतिसम्पदा के क्षिप्रग्रहण, बहुग्रहण, बहुविधग्रहण, ध्रुवग्रहण, अनिश्रितग्रहण और असंदिग्धग्रहण–ये छह भेद हैं। इसी प्रकार ईहा और अवाय के भी छह-छह प्रकार हैं। धारणा मतिसम्पदा के बहुधारण, बहुविधधारण, पुरातनधारण, दुर्द्धरधारण, अनिश्रितधारण और असंदिग्धधारण–ये छह प्रकार हैं।

प्रयोगमतिसम्पदा के स्वयं की शक्ति के अनुसार वाद-विवाद करना, परिषद् को देखकर वाद-विवाद करना, क्षेत्र को देखकर वाद-विवाद करना, काल को देखकर वाद-विवाद करना–ये चार प्रकार हैं।

संग्रहपरिज्ञासम्पदा के वर्षाकाल में सभी मुनियों के निवास के लिए योग्यस्थान की परीक्षा करना, सभी श्रमणों के लिए प्रातिहारिक पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक की व्यवस्था करना, नियमित समय पर प्रत्येक कार्य करना, अपने से ज्येष्ठ श्रमणों का सत्कार-सम्मान करना–ये भेद हैं।

गणिसम्पदाओं के वर्णन के पश्चात् तत्सम्बन्धी चतुर्विध विनय-प्रतिपत्ति पर चिंतन करते हुए आचारविनय, श्रुतविनय, विक्षेपणाविनय और दोषनिर्घातविनय बताये हैं। यह चतुर्विध विनयप्रतिपत्ति है जो गुरुसम्बन्धी विनयप्रतिपत्ति कहलाती है। इसी प्रकार शिष्य सम्बन्धी विनयप्रतिपत्ति भी उपकरणोत्पादनता, सहायता, वर्णसंज्वलनता (गुणानुवादिता), भारप्रत्यवरोहणता है। इन प्रत्येक के पुनः चार-चार प्रकार है। इस प्रकार प्रस्तुत उद्देशक में कुल ३२ प्रकार की विनय-प्रतिपत्ति का विश्लेषण है।

पांचवें उद्देशक में दश प्रकार की चित्तसमाधि का वर्णन है। धर्मभावना, स्वप्नदर्शन, जातिस्मरणज्ञान, देवदर्शन, अवधिज्ञान, अवधिदर्शन, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलमरण (निर्वाण) इन दश स्थानों के वर्णन के साथ मोहनीयकर्म की विशिष्टता पर प्रकाश डाला है।

उपासक प्रतिमा

छठे उद्देशक में ग्यारह प्रकार की उपासक प्रतिमाओं का वर्णन है। प्रतिमाओं के वर्णन के पूर्व मिथ्यादृष्टि के स्वभाव का चित्रण करते हुए बताया है कि वह न्याय का या अन्याय का किंचित्मात्र भी बिना ख्याल किये दंड प्रदान करता है। जैसे सम्पत्तिहरण, मुंडन, तर्जन, ताड़न, अंदुकबन्धन (सांकल से बांधना), निगडबन्धन, काष्ठबन्धन, चारकबन्धन (कारागृह में डालना), निगडयुगल संकुटन (अंगों को मोड़कर बाँधना), हस्त, पाद, कर्ण, नासिका, कण्ठ, शीर्ष, मुख, वेद

आदि का छेदन करना, हृदय-उत्पाटन, नयनादि उत्पाटन, उल्लंबन (वृक्षादि पर लटकाना), घर्षण, घोलन, शूलायन (शूली पर लटकाना), शूलाभेदन, क्षारवर्तन (जख्मों आदि पर नमकादि छिड़कना), दर्भवर्तन (घासादि से पीड़ा पहुँचाना), सिंहपुंछन, वृषभपुंछन, दावाग्निदग्धन, भक्तपाननिरोध प्रभृति दंड देकर आनन्द का अनुभव करता है। किन्तु जो सम्यग्दृष्टि आस्तिक होता है वह उपासक बन एकादश प्रतिमाओं की साधना करता है। इन ग्यारह उपासक प्रतिमाओं का वर्णन उपासकदशांग में भी आ चुका है।

प्रतिमाधारक श्रावक प्रतिमा की पूर्ति के पश्चात् संयम ग्रहण कर लेता है, ऐसा कुछ आचार्यों का अभिमत है। कार्तिक सेठ ने १०० बार प्रतिमा ग्रहण की थी, ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है।

सातवें उद्देशक में श्रमण की प्रतिमाओं का वर्णन है। ये भिक्षु प्रतिमाएँ १२ हैं।

भिक्षु प्रतिमा

प्रथम प्रतिमाधारी भिक्षु को एक दत्ति अन्न की और एक दत्ति पानी की लेना कल्पता है। श्रमण के पात्र में दाता द्वारा दिये जाने वाले अन्न और जल की धारा जब तक अखण्ड बनी रहती है, उसे दत्ति कहते हैं। जहाँ एक व्यक्ति के लिए भोजन बना हो, वहाँ से लेना कल्पता है। जहाँ दो, तीन या अधिक व्यक्तियों के लिए बना हो वहाँ से नहीं ले सकता। इसका समय एक मास का है। दूसरी प्रतिमा भी एक मास की है। उसमें दो दत्ति आहार की और दो दत्ति पानी की ली जाती हैं। इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पांचवीं, छठी और सातवीं प्रतिमाओं में क्रमशः तीन, चार, पांच, छह और सात दत्ति अन्न की और उतनी ही दत्ति पानी की ग्रहण की जाती हैं। प्रत्येक प्रतिमा का समय एक-एक मास है। केवल दत्तियों की वृद्धि के करण ही त्रिमासिक से सप्तमासिक क्रमशः कहलाती है।

आठवीं प्रतिमा सात दिन-रात की होती है। इसमें एकान्तर उपवास करना होता है। गाँव के बाहर आकाश की ओर मुंह करके सीधा देखना, एक करवट से लेटना और निषद्यासन (पैरों को बराबर करके) बैठना, उपसर्ग आने पर शान्तचित्त से सहन करना होता है।

नौवीं प्रतिमा भी सात रात्रि की होती है। इसमें चौविहार बेले-बेले पारणा किया जाता है। गांव के बाहर एकान्त स्थान में दण्डासन, लगुडासन या उत्कटुकासन करके ध्यान किया जाता है।

दसवीं प्रतिमा भी सात रात्रि की होती है। इसमें चौविहार तेले-तेले पारणा किया जाता है। गांव के बाहर गोदोहासन, वीरासन या आम्रकुब्जासन से ध्यान किया जाता है।

ग्यारहवीं प्रतिमा एक अहोरात्रि की होती है। आठ प्रहर तक इसकी साधना की जाती है। चौविहार बेला इसमें किया जाता है। नगर के बाहर दोनों हाथों को घुटनों की ओर लम्बा करके दण्ड की तरह खड़े रहकर कायोत्सर्ग किया जाता है।

बारहवीं प्रतिमा केवल एक रात्रि की है। इसका आराधन तेले से किया जाता है। गांव के बाहर श्मशान में खड़े होकर मस्तक को थोड़ा झुकाकर किसी एक पुद्गल पर दृष्टि रखकर निर्निमेष नेत्रों से निश्चिततापूर्वक कायोत्सर्ग किया जाता है। उपसर्ग आने पर समभाव से सहन किया जाता है।

इन प्रतिमाओं में स्थित श्रमण के लिए अनेक विधान भी किये हैं। जैसे–कोई व्यक्ति प्रतिमाधारी निर्ग्रन्थ है तो उसे भिक्षाकाल को तीन विभाग में विभाजित करके भिक्षा लेनी चाहिये–आदि, मध्य और चरम। आदि भाग में भिक्षा के लिए जाने पर मध्य और चरम भाग में नहीं जाना चाहिये। मासिकी प्रतिमा में स्थित श्रमण जहाँ कोई जानता हो वहाँ एक रात रह सकता है। जहाँ उसे कोई भी नहीं जानता हो वहाँ वह दो रात रह सकता है। इससे अधिक रहने पर उतने ही दिन का छेद अथवा तप प्रायश्चित्त लगता है। इसी प्रकार और भी कठोर अनुशासन का विधान लगाया जा सकता है। जैसे कोई उपाश्रय में आग लगा दे तो भी उसे नहीं जाना चाहिए। यदि कोई पकड़कर उसे बाहर खींचने का प्रयत्न करे तो उसे हठ न करते हुए सावधानीपूर्वक बाहर निकल जाना चाहिए। इसी तरह सामने यदि मदोन्मत्त हाथी, घोड़ा, बैल, कुत्ता, व्याघ्र आदि आ जाएँ तो भी उसे उनसे डरकर एक कदम भी पीछे नहीं हटना चाहिये। शीतलता तथा उष्णता के परीषह को धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिये।

कल्प वर्णन

आठवें उद्देशक (दशा) में पर्युषणा कल्प का वर्णन है। पर्युषण शब्द "परि" उपसर्गपूर्वक वस् धातु से "अनः" प्रत्यय लगाकर बना है। इसका अर्थ है, आत्ममज्जन, आत्मरमण या आत्मस्थ होना। पर्युषणकल्प का दूसरा अर्थ है एक स्थान पर निवास करना। वह सालंबन या निरावलंबन रूप दो प्रकार का है। सालंबन का अर्थ है सकारण और निरावलंबन का अर्थ है कारणरहित। निरावलंबन के जघन्य और उत्कृष्ट दो भेद हैं।

पर्युषणा के पर्यायवाची शब्द इस प्रकार हैं–(१) परियाय वत्थवणा, (२) पज्जोसमणा, (३) पागइया, (४) परिवसना, (५) पज्जुसणा, (६) वासावास, (७) पढमसमोसरण, (८) ठवणा और (९) जेट्ठोग्गह।

ये सभी नाम एकार्थक हैं, तथापि व्युत्पत्ति-भेद के आधार पर किंचित् अर्थभेद भी है और यह अर्थभेद पर्युषणा से सम्बन्धित विविध परम्पराओं एवं उस नियत काल में की जाने वाली क्रियाओं का महत्वपूर्ण निदर्शन कराता है। इन अर्थों से कुछ ऐतिहासिक तथ्य भी व्यक्त होते हैं। पर्युषणा काल के आधार से कालगणना करके दीक्षापर्याय की ज्येष्ठता व कनिष्ठता गिनी जाती है। पर्युषणाकाल एक प्रकार का वर्षमान गिना जाता है। अतः पर्युषणा को दीक्षापर्याय की अवस्था का कारण माना है। वर्षावास में भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सम्बन्धी कुछ विशेष क्रियाओं का आचरण किया जाता है अतः पर्युषणा का दूसरा नाम पज्जोसमणा है।

तीसरा, गृहस्थ आदि के लिए समानभावेन आराधनीय होने से यह "पागइया" यानि प्राकृतिक कहलाता है।

इस नियत अवधि में साधक आत्मा के अधिक निकट रहने का प्रयत्न करता है अतः वह परिवसना भी कहा जाता है। पर्युषणा का अर्थ सेवा भी है। इस काल में साधक आत्मा के ज्ञानदर्शनादि गुणों की सेवा उपासना करता है अतः उसे पज्जुसणा कहते हैं।

इस कल्प में श्रमण एक स्थान पर चार मास तक निवास करता है अतएव इसे वासावास–वर्षावास कहा गया है।

कोई विशेष कारण न हो तो प्रावृट् (वर्षा) काल में ही चातुर्मास करने योग्य क्षेत्र में प्रवेश किया जाता है अतः इसे प्रथमसमवसरण कहते हैं।

ऋतुबद्धकाल की अपेक्षा से इसकी मर्यादाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। अतएव यह ठवणा (स्थापना) है।

ऋतुबद्धकाल में एक-एक मास का क्षेत्रावग्रह होता है किन्तु वर्षाकाल में चार मास का होता है अतएव इसे जेट्ठोग्गह (ज्येष्ठावग्रह) कहा है।

अगर साधु आषाढ़ी पूर्णिमा तक नियत स्थान पर आ पहुँचा हो और वर्षावास की घोषणा कर दी हो तो श्रावण कृष्णा पंचमी से ही वर्षावास प्रारम्भ हो जाता है। उपयुक्त क्षेत्र न मिलने पर श्रावण कृष्णा दशमी को, फिर भी योग्य क्षेत्र की प्राप्ति न हो तो श्रावण कृष्णा पंचदशमी–अमावस्या को वर्षावास प्रारम्भ

करना चाहिए। इतने पर भी योग्य क्षेत्र न मिले तो पांच-पांच दिन बढ़ाते हुए अन्ततः भाद्रपद शुक्ला पंचमी तक तो वर्षावास प्रारम्भ कर देना अनिवार्य माना गया है। इस समय तक भी उपयुक्त क्षेत्र प्राप्त न हो तो वृक्ष के नीचे ही पर्युषणाकल्प करना चाहिए। पर इस तिथि का किसी भी परिस्थिति में उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

वर्तमान में जो पर्युषणा कल्पसूत्र है, वह दशाश्रुतस्कन्ध का ही आठवां अध्ययन है। दशाश्रुतस्कन्ध की प्राचीनतम प्रतियाँ, जो चौदहवीं शताब्दी से पूर्व की हैं, उनमें आठवें अध्ययन में पूर्ण कल्पसूत्र आया है। जो यह स्पष्ट प्रमाणित करता है कि कल्पसूत्र स्वतन्त्र रचना नहीं किन्तु दशाश्रुतस्कन्ध का ही आठवां अध्ययन है।

दूसरी बात दशाश्रुतस्कन्ध पर जो द्वितीय भद्रबाहु की निर्युक्ति है, जिनका समय विक्रम की छठी शताब्दी है, उसमें और उस निर्युक्ति के आधार से निर्मित प्रचलित है, उसके पदों की व्याख्या मिलती है। मुनि श्री पुण्यविजयजी का अभिमत है कि दशाश्रुतस्कन्ध की चूर्णि लगभग सोलह सौ वर्ष पुरानी है।

कल्पसूत्र के पहले सूत्र में "तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे" ..... और अंतिम सूत्र में ..... भुज्जो भुज्जो उवदंसेइ" पाठ है। वही पाठ दशाश्रुतस्कन्ध के आठवें उद्देशक (दशा) में है। यहाँ पर शेष पाठ को "जाव" शब्द के अन्तर्गत संक्षेप कर दिया है। वर्तमान में जो पाठ उपलब्ध है उसमें केवल पंचकल्याणक का ही निरूपण है, जिसका पर्युषणाकल्प के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः स्पष्ट है कि पर्युषणाकल्प इस अध्ययन में पूर्ण कल्पसूत्र था। कल्पसूत्र और दशाश्रुतस्कन्ध इन दोनों के रचयिता भद्रबाहु हैं। इसलिए दोनों एक ही रचनाकार की रचना होने से यह कहा जा सकता है कि कल्पसूत्र दशाश्रुतस्कन्ध का आठवां अध्ययन ही है। वृत्ति, चूर्णि, पृथ्वीचंदटिप्पण और अन्य कल्पसूत्र की टीकाओं से यह स्पष्ट प्रमाणित है।

महामोहनीय स्थान

नौवें उद्देशक में ३० महामोहनीय स्थानों का वर्णन है। आत्मा को आवृत करने वाले पुद्गल कर्म कहलाते हैं। मोहनीयकर्म उन सब में प्रमुख है। मोहनीयकर्मबंध के कारणों की कोई मर्यादा नहीं है, तथापि शास्त्रकार ने मोहनीय कर्मबंध के हेतुभूत कारणों के तीस भेदों का उल्लेख किया है। उनमें दुरध्यवसाय की तीव्रता और क्रूरता इतनी मात्रा में होती है कि कभी-कभी महामोहनीयकर्म का बन्ध हो जाता है जिससे आत्मा ७० कोटा-कोटि सागरोपम तक संसार में

परिभ्रमण करता है। आचार्य हरिभद्र तथा जिनदासगणी महत्तर केवल मोहनीय शब्द का प्रयोग करते हैं। उत्तराध्ययन, समवायांग और दशाश्रुतस्कन्ध में भी मोहनीयस्थान कहा है।[1] किन्तु भेदों के उल्लेख में "महामोहं पकुव्वइं" शब्द का प्रयोग हुआ है। वे स्थान जैसे कि त्रस जीवों को पानी में डुबाकर मारना, उनको श्वास आदि रोक कर मारना, मस्तक पर गीला चमड़ा आदि बाँधकर मारना, गुप्तरीति से अनाचार का सेवन करना, मिथ्या कलंक लगाना, बालब्रह्मचारी न होते हुए भी बालब्रह्मचारी कहलाना, केवलज्ञानी की निन्दा करना, बहुश्रुत न होते हुए भी बहुश्रुत कहलाना, जादू-टोना आदि करना, कामोत्पादक विकथाओं का बार-बार प्रयोग करना आदि हैं।

निदान

दशवें उद्देशक (दशा) का नाम "आयतिस्थान" है। इसमें विभिन्न निदानों का वर्णन है। निदान का अर्थ है-मोह के प्रभाव से कामादि इच्छाओं की उत्पत्ति के कारण होने वाला इच्छापूर्तिमूलक संकल्प। जब मानव के अन्तर्मानस में मोह के प्रबल प्रभाव से वासनाएँ उद्भूत होती हैं तब वह उनकी पूर्ति के लिए दृढ़ संकल्प करता है। यह संकल्पविशेष ही निदान है। निदान के कारण मानव की इच्छाएँ भविष्य में भी निरन्तर बनी रहती हैं जिससे वह जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त नहीं हो पाता। भविष्यकालीन जन्म-मरण की दृष्टि से प्रस्तुत उद्देशक का नाम आयतिस्थान रखा गया है। आयति का अर्थ जन्म या जाति है। निदान का कारण होने से आयतिस्थान माना गया है। दूसरे शब्दों में कहें तो आयति में से "ति" पृथक् कर लेने पर "आय" अवशिष्ट रहता है। आय का अर्थ लाभ है। जिस निदान से जन्म-मरण का लाभ होता है उसका नाम आयति है।

इस दशा में वर्णन है कि भगवान् महावीर राजगृह पधारे। राजा श्रेणिक व महारानी चेलना भगवान् के वन्दन हेतु पहुँचे। राजा श्रेणिक के दिव्य व भव्य रूप और महान् समृद्धि को निहार कर श्रमण सोचने लगे-श्रेणिक तो साक्षात् देवतुल्य प्रतीत हो रहा है। यदि हमारे तप, नियम और संयम आदि का फल हो तो हम भी इस जैसे बनें। महारानी चेलना के सुन्दर सलौने रूप व ऐश्वर्य को देखकर श्रमणियों के अन्तर्मानस में यह संकल्प हुआ कि हमारी साधना का फल हो तो हम आगामी जन्म में चेलना जैसी बनें। अन्तर्यामी महावीर ने उनके संकल्प को जान लिया और श्रमण-श्रमणियों से पूछा कि क्या तुम्हारे मन में इस प्रकार का

---

१. तीसं मोह-ठाणाइं-अभिक्खणं-अभिक्खणं आयारेमाणे वा समायारेमाणे वा मोहणिज्जताए कम्मं पकरेई। —दशाश्रुतस्कन्ध, पृ. ३२१—उपा. आत्मारामजी महाराज

संकल्प हुआ है? उन्होंने स्वीकृतिसूचक उत्तर दिया–"हाँ, भगवन् ! यह बात सत्य है।" भगवान् ने कहा–"निर्ग्रन्थ-प्रवचन सर्वोत्तम है, परिपूर्ण है, सम्पूर्ण कर्मों को क्षीण करने वाला है। जो श्रमण या श्रमणियाँ इस प्रकार धर्म से विमुख होकर ऐश्वर्य आदि को देखकर लुभा जाते हैं और निदान करते हैं वे यदि बिना प्रायश्चित्त किए आयु पूर्ण करते हैं तो देवलोक में उत्पन्न होते हैं और वहां से वे मानवलोक में पुनः जन्म लेते हैं। निदान के कारण उन्हें केवली धर्म की प्राप्ति नहीं होती। वे सदा सांसारिक विषयों में ही मुग्ध बने रहते हैं।"

शास्त्रकार ने ९ प्रकार के निदानों का वर्णन कर यह बताया कि निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सब कर्मों से मुक्ति दिलाने वाला एकमात्र साधन है। अतः निदान नहीं करना चाहिए और किया हो तो आलोचना–प्रायश्चित्त करके मुक्त हो जाना चाहिए।

उपसंहार

इस प्रकार प्रस्तुत आगम में भगवान् महावीर की जीवनी विस्तार से आठवीं दशा में मिलती है। चित्तसमाधि एवं धर्मचिन्ता का सुन्दर वर्णन है। उपासकप्रतिमाओं व भिक्षुप्रतिमाओं के भेद-प्रभेदों का भी वर्णन है।

●●

द्वितीय छेद सूत्र

बृहत्कल्पसूत्र

श्रमण आचार के विविध पहलू

बृहत्कल्प का छेदसूत्रों में गौरवपूर्ण स्थान है। अन्य छेदसूत्रों की तरह इस सूत्र में भी श्रमणों के आचार-विषयक विधि-निषेध, उत्सर्ग-अपवाद, तप, प्रायश्चित्त आदि पर चिन्तन किया गया है। इसमें छह उद्देशक हैं, ८१ अधिकार हैं, ४७३ श्लोकप्रमाण उपलब्ध मूलपाठ है। २८६ सूत्रसंख्या है।

प्रथम उद्देशक में ५० सूत्र हैं। पहले के पांच सूत्र ताल-प्रलंब विषयक हैं। निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों के लिए ताल एवं प्रलंब ग्रहण करने का निषेध है। इसमें अखण्ड एवं अपक्व तालफल व तालमूल ग्रहण नहीं करना चाहिए किन्तु विदारित, पक्व ताल प्रलंब लेना कल्प्य है, ऐसा प्रतिपादित किया गया है, आदि-आदि।

मासकल्प विषयक नियम में श्रमणों के ऋतुबद्धकाल-हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु के ८ महीनों में एक स्थान पर रहने के अधिकतम समय का विधान किया है। श्रमणों को सपरिक्षेप अर्थात् सप्राचीर एवं प्राचीर से बाहर निम्नोक्त १६ प्रकार के स्थानों में वर्षाऋतु के अतिरिक्त अन्य समय में एक साथ एक मास से अधिक ठहरना नहीं कल्पता।

१. ग्राम	(जहां राज्य की ओर से १८ प्रकार के कर लिये जाते हैं)
२. नगर	(जहां १८ प्रकार के कर न लिए जाते हों)
३. खेट	(जिसके चारों ओर मिट्टी की दीवार हो)
४. कर्वट	(जहां कम लोग रहते हों)
५. मडम्ब	(जिसके बाद ढाई कोस तक कोई गाँव न हो)
६. पत्तन	(जहां सब वस्तुएँ उपलब्ध हों)
७. आकर	(जहां सब वस्तुएँ उपलब्ध हों)
८. द्रोणमुख	(जहाँ जल और स्थल को मिलाने वाला मार्ग हो, जहां समुद्री माल आकर उतरता हो)
९. निगम	(जहां व्यापारियों की बस्ती हो)

१०. राजधानी	(जहां राजा के रहने के महल आदि हों)
११. आश्रम	(जहां तपस्वी आदि रहते हों)
१२. निवेश सन्निवेश	(जहां सार्थवाह आकर उतरते हों)
१३. सम्बाध-संवाह	(जहां कृषक रहते हों अथवा अन्य गांव के लोग अपने गांव से धन आदि की रक्षा के निमित्त पर्वत, गुफा आदि में आकर ठहरे हुए हों)
१४. घोष	(जहाँ गाय आदि चराने वाले गूजर लोग-ग्वाले रहते हों)
१५. अंशिका	(गांव का अर्ध, तृतीय अथवा चतुर्थ भाग)
१६. पुटभेदन	(जहां पर गांव के व्यापारी अपनी चीजें बेचने आते हों)

नगर की प्राचीर के अन्दर और बाहर एक-एक मास तक रह सकते हैं। अन्दर रहते समय भिक्षा अन्दर से लेनी चाहिए और बाहर रहते समय बाहर से। श्रमणियां दो मास अन्दर और दो मास बाहर रह सकती हैं। जिस प्राचीर का एक ही द्वार हो वहां निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को एक साथ रहने का निषेध किया है, पर अनेक द्वार हों तो रह सकते हैं।

जिस उपाश्रय के चारों ओर अनेक दुकानें हों, अनेक द्वार हों वहां साध्वियों को नहीं रहना चाहिए किन्तु साधु यतनापूर्वक रह सकता है। जो स्थान पूर्ण रूप से खुला हो, द्वार न हों वहां पर साध्वियों को रहना नहीं कल्पता। यदि अपवादरूप में उपाश्रय-स्थान न मिले तो परदा लगाकर रह सकती हैं। निर्ग्रन्थों के लिए खुले स्थान पर भी रहना कल्पता है। निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को कपड़े की मच्छरदानी (चिलिमिलिका) रखने व उपयोग करने की अनुमति प्रदान की गई है।

निर्ग्रन्थ व निर्ग्रन्थियों को जलाशय के सन्निकट खड़े रहना, बैठना, लेटना, सोना, खाना-पीना, स्वाध्याय आदि करना नहीं कल्पता।

जहां पर विकारोत्पादक चित्र हों वहां पर श्रमण-श्रमणियों को रहना नहीं कल्पता।

मकान मालिक की बिना अनुमति के रहना नहीं कल्पता। जिस मकान के मध्य में होकर रास्ता हो–जहां गृहस्थ रहते हों, वहां श्रमण-श्रमणियों को नहीं रहना चाहिए।

किसी श्रमण का आचार्य, उपाध्याय, श्रमण या श्रमणी से परस्पर कलह हो गया हो तो परस्पर क्षमायाचना करनी चाहिए। जो शांत होता है वह आराधक है। श्रमणधर्म का सार उपशम है–"उवसमसारं खु सामण्णं"।

वर्षावास में विहार का निषेध है किन्तु हेमन्त व ग्रीष्म ऋतु में विहार का विधान है। जो प्रतिकूल क्षेत्र हों वहाँ निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को बार-बार विचरना निषिद्ध है। क्योंकि संयम की विराधना होने की सम्भावना है। इसलिए प्रायश्चित्त का विधान है।

गृहस्थ के यहां भिक्षा के लिए या शौचादि के लिए श्रमण बाहर जाय उस समय यदि कोई गृहस्थ वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि देना चाहे तो आचार्य की अनुमति प्राप्त होने पर उसे लेना और रखना चाहिए। वैसे ही श्रमणी के लिए प्रवर्तिनी की आज्ञा आवश्यक है।

विहार कल्प

श्रमण-श्रमणियों के लिए रात्रि के समय या असमय में आहारादि ग्रहण करने का निषेध किया गया है। इसी तरह वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण ग्रहण का निषेध है। अपवादरूप में यदि तस्कर श्रमण-श्रमणियों के वस्त्र चुराकर ले गया हो और वे पुनः प्राप्त हो गये हों तो रात्रि में ले सकते हैं। यदि वे वस्त्र तस्करों ने पहने हों, स्वच्छ किये हों, रंगें हों या धूपादि सुगन्धित पदार्थों से वासित किये हों तो भी ग्रहण कर सकते हैं।

निर्ग्रन्थ व निर्ग्रन्थियों को रात्रि के समय या विकाल में विहार का निषेध किया गया है। यदि उच्चारभूमि आदि के लिए अपवाद रूप में जाना ही पड़े तो अकेला न जाय किन्तु साधुओं को साथ लेकर जाय।

निर्ग्रन्थ व निर्ग्रन्थियों के विहार क्षेत्र की मर्यादा पर भी चिन्तन किया गया है। पूर्व में अंगदेश एवं मगधदेश तक, दक्षिण में कौशाम्बी तक, पश्चिम में स्थूणा तक व उत्तर में कुणाला तक–ये आर्यक्षेत्र हैं। आर्यक्षेत्र में विचरने से ज्ञान-दर्शन की वृद्धि होती है। यदि अनार्यक्षेत्र में जाने पर रत्नत्रय की हानि की सम्भावना न हो तो जा सकते हैं।

शय्या कल्प

द्वितीय उद्देशक में उपाश्रय विषयक १२ सूत्रों में बताया है कि जिस उपाश्रय में शाली, ब्रीहि, मूंग, उड़द आदि बिखरे पड़े हों वहां पर श्रमण-श्रमणियों को किंचित् समय भी न रहना चाहिए किन्तु एक स्थान पर ढेर रूप में पड़े हुए हों तो वहां हेमन्त व ग्रीष्म ऋतु में रहना कल्पता है। यदि कोष्ठागार आदि में सुरक्षित रखे हुए हों तो वर्षावास में भी रहना कल्पता है।

जिस स्थान पर सुराविकट, सौवीरविकट आदि रखे हों वहाँ किंचित् समय भी साधु-साध्वियों को नहीं रहना चाहिए।[1] यदि कारणवशात् अन्वेषणा करने पर भी अन्य स्थान उपलब्ध न हो तो श्रमण दो रात्रि रह सकता है, अधिक नहीं। अधिक रहने पर छेद या परिहार का प्रायश्चित्त आता है।[2]

इसी तरह शीतोदकविकटकुंभ, उष्णोदकविकटकुंभ, ज्योति, दीपक आदि से युक्त उपाश्रय में नहीं रहना चाहिए।

इसी तरह एक या अनेक मकान के अधिपति से आहारादि नहीं लेना चाहिए। यदि एक मुख्य हो तो उसके अतिरिक्त शेष के यहां से ले सकते हैं। यहां पर शय्यातर मुख्य है जिसकी आज्ञा ग्रहण की है। शय्यातर के विविध पहलुओं पर चिन्तन किया गया है।

वस्त्र कल्प

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को जांगिक, भांगिक, सानक, पोतक और तिरिटपट्टक ये पाँच[3] प्रकार के वस्त्र लेना कल्पता है और औणिक, औष्ट्रिक, सानक, वच्चकचिप्पक, मूंजचिप्पक ये पांच प्रकार के[4] रजोहरण रखना कल्पता है।

तृतीय उद्देशक में निर्ग्रन्थों को निर्ग्रन्थियों के उपाश्रय में बैठना, सोना, खाना, पीना, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग करना नहीं कल्पता। इसी प्रकार निर्ग्रन्थियों को निर्ग्रन्थों के उपाश्रय आदि में बैठना, खाना, पीना आदि नहीं कल्पता। आगे के चार सूत्रों में चर्म विषयक, उपभोग आदि के सम्बन्ध में कल्पाकल्प की चर्चा है।

वस्त्र के सम्बन्ध में कहा है कि वे रंगीन न हों, किन्तु श्वेत होने चाहिए। कौन-कौनसी वस्तुएँ धारण करना या न करना–इसका विधान किया गया है।

---

१. सुराविकटं पिष्टनिष्पन्नम् सौवीरविकटं तु पिष्टवर्जैर्गुडादिद्रव्यैर्निष्पन्नम्।
–क्षेमकीर्तिकृत वृत्ति, पृष्ठ १०९५२

२. "छेदो वा" पंचरात्रिन्दिवादिः "परिहारो वा" मासलघुकादिस्तपोविशेषो भवतीति सूत्रार्थः।
–क्षेमकीर्तिकृत वृत्ति, पृष्ठ १०९५२

३. जंगमाः त्रसाः तदवयवनिष्पन्नं जांगमिकम्, भगा अतसी तन्मयं भांगिकम्, सनसूत्रमयं सानकम्, पोतकं कार्पासिकम् तिरीटः वृक्षविशेषस्तस्य यः पट्टो वल्कल क्षणस्तन्निष्पन्नं तिरीटपट्टकं ना पंचमम्। –उ. २, सू. २४

४. "और्णिक" ऊरणिकानामूर्णाभिर्निर्वृत्तम्, "औष्ट्रिकं" उष्ट्ररोमभिर्निर्वृत्तम्, "सानकं" सनवृक्षवल्काद् जातम् "वाचकः" तृणविशेषस्तस्य "चिप्पकः" कुट्टितः त्वगूपः तेन निष्पन्नं वच्चकचिप्पकम् "मुंजः" शरस्तम्बस्तस्य चिप्पकाद् जातं मुंजचिप्पकं नाम पंचममिति। –उ. २, सू. २५

दीक्षा लेते समय वस्त्रों की मर्यादा का भी वर्णन किया गया है। वर्षावास में वस्त्र लेने का निषेध है किन्तु हेमन्त व ग्रीष्म ऋतु में आवश्यकता होने पर वस्त्र लेने में बाधा नहीं है और वस्त्र के विभाजन का इस सम्बन्ध में भी चिन्तन किया है।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को प्रातिहारिक वस्तुएं उसके मालिक को बिना दिये अन्यत्र विहार करना नहीं कल्पता। यदि किसी वस्तु को कोई चुरा ले तो उसकी अन्वेषणा करनी चाहिये और मिलने पर शय्यातर को दे देनी चाहिए। यदि आवश्यकता हो तो उसकी आज्ञा होने पर उपयोग कर सकता है।

चतुर्थ उद्देशक में अब्रह्मसेवन तथा रात्रि-भोजन आदि व्रतों के सम्बन्ध में दोष लगने पर प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

पंडक, नपुंसक एवं वातिक प्रव्रज्या के लिए अयोग्य है। यहां तक कि उनके साथ संभोग (एक साथ भोजन-पानादि) करना भी निषिद्ध है।

अविनीत, रसलोलुपी व क्रोधी को शास्त्र पढ़ाना अनुचित है। दुष्ट, मूढ़ और दुर्विदग्ध ये तीन प्रव्रज्या और उपदेश के अनधिकारी हैं।

निर्ग्रन्थी रुग्ण अवस्था में या अन्य किसी कारण से अपने पिता, भाई, पुत्र आदि का सहारा लेकर उठती या बैठती हो और साधु के सहारे की इच्छा करे तो उसे भी चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। इसी तरह निर्ग्रन्थ भाता, पत्नी, पुत्री आदि का सहारा लेते हुए तथा साध्वी के सहारे की इच्छा करे तो उसे भी चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। इसमें चतुर्थ व्रत के खंडन की सम्भावना होने से प्रायश्चित्त का विधान किया है।

निर्ग्रन्थ व निर्ग्रन्थियों को कालातिक्रान्त, क्षेत्रातिक्रान्त अशनादि ग्रहण करना नहीं कल्पता। प्रथम पौरुषी का लाया हुआ आहार चतुर्थ पौरुषी तक रखना नहीं कल्पता। यदि भूल से रह जाय तो परठ देना चाहिए। उपयोग करने पर प्रायश्चित्त का विधान है। यदि भूल से अनेषणीय, स्निग्ध अशनादि भिक्षा में आ गया हो तो अनुपस्थापित श्रमण-जिनमें महाव्रतों की स्थापना नहीं की है उन्हें दे देना चाहिए। यदि वह न हो तो निर्दोष स्थान पर परठ देना चाहिए।

आचेलक्य आदि कल्प में स्थित श्रमणों के लिए निर्मित आहारादि अकल्पस्थित श्रमणों के लिए कल्पनीय है। जो आहारादि अकल्पस्थित श्रमणों के लिए निर्मित हो वह कल्पस्थित श्रमणों के लिए अकल्प्य होता है। यहां पर कल्पस्थित का तात्पर्य है "पंचयामधर्मप्रतिपन्न" और अकल्पस्थित धर्म का अर्थ है "चातुर्यामधर्मप्रतिपन्न"।

किसी निर्ग्रन्थ को ज्ञान आदि के कारण अन्य गण में उपसम्पदा लेनी हो तो आचार्य की अनुमति आवश्यक है। इसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक आदि को भी यदि अन्य गण में उपसम्पदा लेनी हो तो अपने समुदाय की योग्य व्यवस्था करके ही अन्य गण में सम्मिलित होना चाहिए।

संध्या के समय या रात्रि में कोई श्रमण या श्रमणी कालधर्म को प्राप्त हो जाए तो दूसरे श्रमण-श्रमणियों को उस मृत शरीर को रात्रि भर सावधानी से रखना चाहिए। प्रातः गृहस्थ के घर से बांस आदि लाकर मृतक को उससे बांधकर दूर जंगल में निर्दोष भूमि पर प्रस्थापित कर देना चाहिए और पुनः बांस आदि गृहस्थ को दे देना चाहिए।

श्रमण ने किसी गृहस्थ के साथ यदि कलह किया हो तो उसे शांत किये बिना भिक्षाचर्या करना नहीं कल्पता।

परिहारविशुद्धचारित्र ग्रहण करने की इच्छा वाले श्रमण को विधि समझाने हेतु पारणे के दिन स्वयं आचार्य, उपाध्याय उसके साथ जाकर आहार दिलाते हैं और स्वस्थान पर आकर परिहारविशुद्धचारित्र का पालन करने की विधि बतलाते हैं।

श्रमण-श्रमणियों को गंगा, यमुना, सरयू, कोशिका, मही इन पांच महानदियों में से महीने में एक से अधिक बार एक नदी पार नहीं करनी चाहिए। ऐरावती आदि छिछली नदियां महीने में दो-तीन बार पार की जा सकती हैं।

श्रमण-श्रमणियों को घास की ऐसी निर्दोष झोंपड़ी में, जहां पर अच्छी तरह से खड़ा नहीं रहा जा सके, हेमन्त व ग्रीष्म ऋतु में रहना वर्ज्य है। यदि निर्दोष तृणादि से बनी हुई दो हाथ से कम ऊंची झोंपड़ी है तो वर्षाऋतु में वहां नहीं रह सकते। यदि दो हाथ से अधिक ऊंची है तो वहां वर्षाऋतु में रह सकते हैं।

पंचम उद्देशक में बताया है कि यदि कोई देव स्त्री का रूप बनाकर साधु का हाथ पकड़े और वह साधु उसके कोमल स्पर्श को सुखरूप माने तो उसे मैथुन प्रतिसेवन दोष लगता है और उसे चातुर्मासिक गुरु-प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार साध्वी को भी उसके विपरीत पुरुष स्पर्श का अनुभव होता है और वह उसे सुखरूप माने तो चातुर्मासिक गुरु-प्रायश्चित्त आता है।

कोई श्रमण बिना क्लेश को शांत किए अन्य गण में जाकर मिल जाय और उस गण के आचार्य को ज्ञात हो जाए कि यह श्रमण वहां से कलह करके आया है तो उसे पाँच रातदिन का छेद देना चाहिए और उसे शान्त कर उसके गण में पुनः भेज देना चाहिए।

सशक्त या अशक्त श्रमण सूर्योदय हो चुका है या अभी अस्त नहीं हुआ है ऐसा समझकर यदि आहारादि करता है और यदि उसे यह ज्ञात हो जाय कि अभी तो सूर्योदय हुआ ही नहीं है या अस्त हो गया है तो उसे आहारादि तत्क्षण त्याग देना चाहिए। उसे रात्रिभोजन का दोष नहीं लगता। सूर्योदय और सूर्यास्त के प्रति शंकाशील होकर आहारादि करने वाले को रात्रिभोजन का दोष लगता है। श्रमण-श्रमणियों को रात्रि में डकारादि के द्वारा मुंह में अन्न आदि आ जाय तो उसे बाहर थूक देना चाहिए।

यदि आहारादि में द्वीन्द्रियादि जीव गिर जाय तो यतनापूर्वक निकाल कर आहारादि करना चाहिए। यदि निकलने की स्थिति में न हो तो एकान्त निर्दोष स्थान में परिस्थापन कर दे। आहारादि लेते समय सचित्त पानी की बूँदें आहारादि में गिर जाएं और वह आहार गरम हो तो उसे खाने में किंचित् मात्र भी दोष नहीं है। क्योंकि उसमें पड़ी हुई बूँदें अचित्त हो जाती हैं। यदि आहार शीतल है तो न स्वयं खाना चाहिए और न दूसरों को खिलाना चाहिए अपितु एकान्त स्थान पर परिस्थापन कर देना चाहिए।

निर्ग्रन्थी को एकाकी रहना, नग्न रहना, पात्ररहित रहना, ग्रामादि के बाहर आतापना लेना, उत्कटुकासन, वीरासन, दण्डासन, लगुडशायी आदि आसन पर बैठकर कायोत्सर्ग करना वर्ज्य है।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को परस्पर मोक (पेशाव या थूक) का आचमन करना अकल्प्य है किन्तु रोगादि कारणों से ग्रहण किया जा सकता है।

परिहारकल्प में स्थित भिक्षु को स्थविर आदि के आदेश से अन्यत्र जाना पड़े तो शीघ्र जाना चाहिए और कार्य करके पुनः लौट आना चाहिए। यदि चारित्र में किसी प्रकार का दोष लगे तो प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध कर लेना चाहिए।

छठे उद्देशक में यह बताया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को अलीक (झूठ) वचन, हीलितवचन, खिंसितवचन, परुषवचन, गार्हस्थिकवचन, व्यवशमितोदीरणवचन (शांत हुए कलह को उभारनेवाला वचन), ये छह प्रकार के वचन नहीं बोलने चाहिए।

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, अविरति-अब्रह्म, नपुंसक, दास आदि का आरोप लगाने वाले को प्रायश्चित्त आता है।

निर्ग्रन्थ के पैर में कांटा लग गया हो और वह निकालने में असमर्थ हो तो उसे अपवादरूप में निर्ग्रन्थी निकाल सकती है। इसी प्रकार नदी आदि में डूबने, गिरने, फिसलने आदि का प्रसंग आये तो साधु साध्वी का हाथ पकड़कर बचाये।

इसी प्रकार विक्षिप्तचित्त निर्ग्रन्थी को अपने हाथ से पकड़कर उसके स्थान पर पहुंचा दे, वैसे ही विक्षिप्त साधु को भी साध्वी हाथ पकड़कर पहुंचा सकती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि ये आपवादिक सूत्र हैं। इसमें विकारभावना नहीं किन्तु परस्पर के संयम की सुरक्षा की भावना है।

साधु की मर्यादा का नाम कल्पस्थिति है। यह छह प्रकार की है—सामायिक-संयतकल्पस्थिति, छेदोपस्थापनीय संयतकल्पस्थिति, निर्विशमानकल्पस्थिति, निर्विष्टकायिककल्पस्थिति, जिनकल्पस्थिति और स्थविरकल्पस्थिति।

इस प्रकार वृहत्कल्प में श्रमण-श्रमणियों के जीवन और व्यवहार से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डाला है। यही इस शास्त्र की विशेषता है।

●●

तृतीय छेदसूत्र

व्यवहारसूत्र

बृहत्कल्प और व्यवहार ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। व्यवहार भी छेदसूत्र है जो चरणानुयोगमय है। इसमें दश उद्देशक हैं। ३७३ अनुष्टुप श्लोक प्रमाण उपलब्ध मूल पाठ है। २६७ सूत्र संख्या है।

प्रायश्चित्त विधान

प्रथम उद्देशक में मासिक प्रायश्चित्त के योग्य दोष का सेवन कर उस दोष की आचार्य आदि के पास कपटरहित आलोचना करने वाले श्रमण को एकमासिक प्रायश्चित्त आता है जबकि कपटसहित करने पर द्विमासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है। द्विमासिक प्रायश्चित्त के योग्य दोष की साधक निष्कपट आलोचना करता है तो उसे द्विमासिक प्रायश्चित्त आता है और कपटसहित करने से तीन मास का। इस प्रकार तीन, चार, पांच और छह मास के प्रायश्चित्त का विधान है। अधिक से अधिक छह मास के प्रायश्चित्त का विधान है। जिसने अनेक दोषों का सेवन किया हो उसे क्रमशः आलोचना करनी चाहिए और फिर सभी का साथ में प्रायश्चित्त लेना चाहिए। प्रायश्चित्त करते हुए भी यदि पुनः दोष लग जाय तो उसका पुनः प्रायश्चित्त करना चाहिए।

प्रायश्चित्त का सेवन करने वाले श्रमण को स्थविर आदि की अनुज्ञा लेकर ही अन्य साधुओं के साथ उठना-बैठना चाहिए। आज्ञा की अवहेलना पर किसी के साथ यदि वह बैठता है तो उतने दिन की उसकी दीक्षापर्याय कम होती है जिसे आगमिक भाषा में छेद कहा गया है। परिहारकल्प का परित्याग कर स्थविर आदि की सेवा के लिए दूसरे स्थान पर जा सकता है।

कोई श्रमण गण का परित्याग कर एकाकी विचरण करता है और यदि वह अपने को शुद्ध आचार के पालन करने में असमर्थ अनुभव करता है तो उसे आलोचना कर छेद या नवीन दीक्षा ग्रहण करवानी चाहिए। जो नियम सामान्य रूप से एकलविहारी श्रमण के लिए है वही नियम एकलविहारी गणावच्छेदक, आचार्य व शिथिलाचारी श्रमण के लिए है।

आलोचना आचार्य, उपाध्याय के समक्ष कर प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होना चाहिए। यदि वे अनुपस्थित हों तो अपने संभोगी, साधर्मिक, बहुश्रुत आदि के समक्ष आलोचना करनी चाहिए। यदि वे पास में न हों तो अन्य समुदाय के संभोगी, बहुश्रुत आदि श्रमण जहाँ हों वहाँ जाकर आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए। यदि वह भी न हों तो सारूपिक (संदोषी) किन्तु बहुश्रुत साधु हों तो वहाँ जाकर प्रायश्चित्त लेना चाहिए। यदि वह भी न हों तो बहुश्रुत श्रमणोपासक के पास और उसका भी अभाव हो तो सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के पास जाकर प्रायश्चित्त करना चाहिए। इन सबके अभाव में गाँव या नगर के बाहर जाकर पूर्व या उत्तर दिशा के सम्मुख खड़े होकर दोनों हाथ जोड़कर अपने अपराध की आलोचना करे।

द्वितीय उद्देशक में कहा है कि एक समान समाचारी वाले दो साधर्मिक साथ में हों और उनमें से किसी एक ने दोष का सेवन किया हो तो दूसरे के सन्मुख प्रायश्चित्त लेना चाहिए। प्रायश्चित्त करने वाले की सेवा आदि का भार दूसरे श्रमण पर रहता है। यदि दोनों ने दोषस्थान का सेवन किया हो तो परस्पर आलोचना कर प्रायश्चित्त लेकर सेवा करनी चाहिए। अनेक श्रमणों में से किसी एक श्रमण ने अपराध किया हो तो एक को ही प्रायश्चित्त दे। यदि सभी ने अपराध किया है तो एक के अतिरिक्त शेष सभी प्रायश्चित्त लेकर शुद्धिकरण करें और उनका प्रायश्चित्त पूर्ण होने पर उसे भी प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करें।

परिहारकल्पस्थित श्रमण कदाचित् रुग्ण हो जाय तो उसे गच्छ से बाहर निकालना नहीं कल्पता। जब तक वह स्वस्थ न हो जाय तब तक वैयावृत्य करवाना गणावच्छेदक का कर्त्तव्य है और स्वस्थ होने पर उसने सदोषावस्था में सेवा करवाई अतः उसे प्रायश्चित्त लेना चाहिए। इसी तरह अनवस्थाप्य एवं पारांचिक प्रायश्चित्त करने वाले को भी रुग्णावस्था में गच्छ से बाहर नहीं करना चाहिए।

विक्षिप्तचित्त को भी गच्छ से बाहर निकालना नहीं कल्पता और जब तक उसका चित्त स्थिर न हो जाय तब तक उसकी पूर्ण सेवा करनी चाहिए तथा स्वस्थ होने पर नाममात्र का प्रायश्चित्त देना चाहिए। इसी प्रकार दीप्तचित्त (जिसका चित्त अभिमान से उद्दीप्त हो गया है), उन्मादप्राप्त, उपसर्गप्राप्त, साधिकरण, सप्रायश्चित्त आदि को गच्छ से बाहर निकालना नहीं कल्पता।

नौवां अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त करने वाले साधु को गृहस्थलिंग धारण कराये बिना संयम में पुनः स्थापित नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसका अपराध इतना

महान् होता है कि बिना वैसा किये उसका पूरा प्रायश्चित्त नहीं हो पाता और न अन्य श्रमणों के अन्तर्मानस में उस प्रकार के अपराध के प्रति भय ही उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार दसवें पारंचिक प्रायश्चित्त वाले श्रमण को भी गृहस्थ का वेश पहनाने के पश्चात् पुनः संयम में स्थापित करना चाहिए। यह अधिकार प्रायश्चित्तदाता के हाथ में है कि उसे गृहस्थ का वेश न पहनाकर अन्य प्रकार का वेश भी पहना सकता है।

पारिहारिक और अपारिहारिक श्रमण एक साथ आहार करें, यह उचित नहीं है। पारिहारिक श्रमणों के साथ बिना तप पूर्ण हुए अपारिहारिक श्रमणों को आहारादि नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो तपस्वी हैं उनका तप पूर्ण होने के पश्चात् एक मास के तप पर पांच दिन और छह महीने के तप पर एक महीना व्यतीत हो जाने के पूर्व उनके साथ कोई आहार नहीं कर सकता, क्योंकि उन दिनों में उनके लिए विशेष प्रकार के आहार की आवश्यकता होती है जो दूसरों के लिए आवश्यक नहीं।

विहार-विवेक

तृतीय उद्देशक में बताया है कि किसी श्रमण के मानस में अपना स्वतंत्र गच्छ बनाकर परिभ्रमण करने की इच्छा हो पर वह आचारांग आदि का परिज्ञाता नहीं हो तो शिष्य आदि परिवारसहित होने पर भी पृथक् गण बनाकर स्वच्छन्दी होना योग्य नहीं। यदि वह आचारांग आदि का ज्ञाता है तो स्थविर से अनुमति लेकर विचर सकता है। स्थविर की बिना अनुमति के विचरने वाले को जितने दिन इस प्रकार विचरा हो उतने ही दिन का छेद या पारिहारिक प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ता है।

पद-मर्यादा

उपाध्याय वही बन सकता है जो कम से कम तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाला है, निर्ग्रन्थ के आचार में निष्णात है, संयम में प्रवीण है, आचारांग आदि प्रवचनशास्त्रों में पारंगत है, प्रायश्चित्त देने में पूर्ण समर्थ है, संघ के लिए क्षेत्र आदि का निर्णय करने में दक्ष है, चारित्रवान है, बहुश्रुत है आदि।

आचार्य वह बन सकता है जो श्रमण के आचार में कुशल, प्रवचन में पटु, दशाश्रुतस्कन्ध-कल्प-बृहत्कल्प-व्यवहार का ज्ञाता है और कम से कम पांच वर्ष का दीक्षित है।

आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी, गणावच्छेदक पद उसे दिया जा सकता है जो श्रमण के आचार में कुशल, प्रवचनदक्ष, असंक्लिष्टमना व स्थानांग-समवायांग का ज्ञाता है।

अपवाद में एक दिन की दीक्षापर्याय वाले साधु को भी आचार्य, उपाध्याय के पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है। उस प्रकार का साधु प्रतीतिकारी, धैर्यशील, विश्वसनीय, समभावी, प्रमोदकारी, अनुमत, बहुमत व उच्च कुलोत्पन्न एवं गुणसंपन्न होना आवश्यक है।

आचार्य अथवा उपाध्याय की आज्ञा से ही संयम का पालन करना चाहिए। अब्रह्म का सेवन करने वाला आचार्य आदि पदवी के अयोग्य है। यदि गच्छ का परित्याग कर उसने वैसा कार्य किया है तो पुनः दीक्षा धारण कर तीन वर्ष बीतने पर यदि उसका मन स्थिर हो, विकार शांत हो, कषाय आदि का अभाव हो तो आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

चतुर्थ उद्देशक में कहा है कि आचार्य अथवा उपाध्याय के साथ हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में कम से कम एक अन्य साधु होना चाहिए और गणावच्छेदक के साथ दो। वर्षाऋतु में आचार्य और उपाध्याय के साथ दो व गणावच्छेदक के साथ तीन साधुओं का होना आवश्यक है।

आचार्य की महत्ता पर प्रकाश डालकर यह बताया गया है कि उनके अभाव में किस प्रकार रहना चाहिए?

आचार्य, उपाध्याय यदि अधिक रुग्ण हों और जीवन की आशा कम हो तो अन्य सभी श्रमणों को बुलाकर आचार्य कहे कि मेरी आयु पूर्ण होने पर अमुक साधु को अमुक पदवी प्रदान करना। उनकी मृत्यु के पश्चात् यदि वह साधु योग्य प्रतीत न हो तो अन्य को भी प्रतिष्ठित किया जा सकता है और योग्य हो तो उसे ही प्रतिष्ठित करना चाहिए। अन्य योग्य श्रमण आचारांग आदि पढ़कर दक्ष न हो जाय तब तक आचार्य आदि की सम्मति से अस्थायी रूप से साधु को किसी भी पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है और योग्य पदाधिकारी प्राप्त होने पर पूर्वव्यक्ति को अपने पद से पृथक् हो जाना चाहिए। यदि वह वैसा नहीं करता है तो प्रायश्चित्त का भागी होता है।

दो श्रमण साथ में विचरण करते हों तो उन्हें योग्यतानुसार छोटा और बड़ा होकर रहना चाहिए और एक-दूसरे का सम्मान करना चाहिए। इसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय को भी।

पांचवें उद्देशक में प्रवर्तिनी को कम से कम दो अन्य साध्वियों के साथ शीतोष्णकाल मे ग्रामानुग्राम विचरण करना चाहिए और गणावच्छेदिका के साथ तीन अन्य साध्वियां होनी चाहिए। वर्षाऋतु में प्रवर्तिनी के साथ तीन और गणावच्छेदिका के साथ चार साध्वियां होनी चाहिए।

प्रवर्तिनी आदि की मृत्यु और पदाधिकारी की नियुक्ति के सम्बन्ध में जैसा श्रमणों के लिए कहा गया है वैसा ही श्रमणियों के लिए भी समझना चाहिए।

वैयावृत्य के लिए सामान्य विधान यह है कि श्रमण, श्रमणी से और श्रमणी, श्रमण से वैयावृत्य न करावे किन्तु अपवादरूप में परस्पर सेवा-शुश्रूषा कर सकते हैं।

सर्पदंश आदि कोई विशिष्ट परिस्थिति पैदा हो जाय तो अपवादरूप में गृहस्थ से भी सेवा करवाई जा सकती है। यह विधान स्थविरकल्पियों के लिए है। जिनकल्पियों के लिए सेवा का विधान नहीं है। यदि वे सेवा करवाते हैं तो पारिहारिक तपरूप प्रायश्चित्त करना पड़ता है।

छठे उद्देशक में बताया है कि अपने स्वजनों के यहाँ बिना स्थविरों की अनुमति प्राप्त किए नहीं जाना चाहिए। जो श्रमण-श्रमणी अल्पश्रुत व अल्प-आगमी हैं उन्हें एकाकी अपने सम्बन्धियों के यहाँ नहीं जाना चाहिए। यदि जाना है तो बहुश्रुत व बहुआगमधारी श्रमण-श्रमणी के साथ जाना चाहिए। श्रमण के पहुँचने के पूर्व जो वस्तु पक कर तैयार हो चुकी है वह ग्राह्य है और जो तैयार नहीं हुई है वह अग्राह्य है।

आचार्य, उपाध्याय यदि बाहर से उपाश्रय में आवें तो उनके पांव पोंछकर साफ करना चाहिए। उनके लघुनीत आदि को यतनापूर्वक भूमि पर परठना चाहिए। यथाशक्ति उनकी वैयावृत्य करनी चाहिए। उपाश्रय में उनके साथ रहना चाहिए। उपाश्रय से बाहर जावें तब उनके साथ जाना चाहिए। गणावच्छेदक उपाश्रय में रहें तब साथ रहना चाहिए और उपाश्रय से बाहर जाएँ तो साथ जाना चाहिए।

श्रमण-श्रमणियों को आचारांग आदि आगमों के ज्ञाता श्रमण-श्रमणियों के साथ रहना कल्पता है और बिना ज्ञाता के साथ रहने पर प्रायश्चित्त का भागी बनना पड़ता है।

किसी विशेष कारण से अन्य गच्छ से निकलकर आने वाले श्रमण-श्रमणी यदि निर्दोष हैं, आचारनिष्ठ हैं, शबलदोष से रहित हैं, क्रोधादि से असंस्पृष्ट हैं,

अपने दोषों की आलोचना कर शुद्धि करते हैं, तो उनके साथ समानता का व्यवहार करना कल्पता है, नहीं तो नहीं।

सातवें उद्देशक में यह विधान है कि साधु स्त्री को और साध्वी पुरुष को दीक्षा न दे। यदि किसी ऐसे स्थान में किसी स्त्री को वैराग्य भावना जाग्रत हुई हो जहां सन्निकट में साध्वी न हो तो वह इस शर्त पर दीक्षा देता है कि वह यथाशीघ्र किसी साध्वी को सुपुर्द कर देगा। इसी तरह साध्वी भी पुरुष को दीक्षा दे सकती है।

जहां पर तस्कर, बदमाश या दुष्ट व्यक्तियों का प्राधान्य हो वहां श्रमणियों को विचरना नहीं कल्पता, क्योंकि वहां पर वस्त्रादि के अपहरण व व्रतभंग आदि का भय रहता है। श्रमणों के लिए कोई बाधा नहीं है।

किसी श्रमण का किसी ऐसे श्रमण से वैर-विरोध हो गया है जो विकट दिशा (चोरादि का निवास हो ऐसा स्थान) में है तो वहाँ जाकर उससे क्षमायाचना करनी चाहिए, किन्तु स्वस्थान पर रहकर नहीं। किन्तु श्रमणी अपने स्थान से भी क्षमायाचना कर सकती है।

साधु-साध्वियों को आचार्य, उपाध्याय के नियन्त्रण के बिना स्वच्छन्द रूप से परिभ्रमण करना नहीं कल्पता।

आठवें उद्देशक में इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि साधु को, एक हाथ से उठाने योग्य छोटे-मोटे शय्या संस्तारक, तीन दिन में जितना मार्ग तय कर सके उतनी दूर से लाना कल्पता है। किसी वृद्ध निर्ग्रन्थ के लिए आवश्यकता पड़ने पर पाँच दिन में जितना चल सके उतनी दूरी से लाना कल्पता है। स्थविर के लिए निम्न उपकरण कल्पनीय हैं–दण्ड, भाण्ड, छत्र, मात्रिका, लाष्ठिक (पीठ के पीछे रखने के लिए तकिया या पाटा), भिसी (स्वाध्यायादि के लिए बैठने का पाटा), चेल (वस्त्र), चेल-चिलिमिलिका (वस्त्र का पर्दा), चर्म, चर्मकोश (चमड़े की थैली), चर्म-पलिछ (लपेटने के लिए चमड़े का टुकड़ा) इन उपकरणों में से जो साथ में रखने के योग्य न हों उन्हें उपाश्रय के समीप किसी गृहस्थ के यहाँ रखकर समय-समय पर उनका उपयोग किया जा सकता है।

किसी स्थान पर अनेक श्रमण रहते हों, उनमें से कोई श्रमण किसी गृहस्थ के यहाँ पर कोई उपकरण भूल गया हो और अन्य श्रमण वहां पर गया हो तो गृहस्थ श्रमण से कहे कि यह उपकरण आपके समुदाय के संत का है तो संत उस उपकरण को लेकर स्वस्थान पर आये और जिसका उपकरण हो उसे दे दे। यदि वह उपकरण किसी संत का न हो तो न स्वयं उसका उपयोग करे और न

दूसरों को उपयोग के लिए दे किन्तु निर्दोष स्थान पर उसका परित्याग कर दे। यदि श्रमण वहां से विहार कर गया हो तो उसकी अन्वेषणा कर स्वयं उसे उसके पास पहुँचावे । यदि उसका सही पता न लगे तो एकान्त स्थान पर प्रस्थापित कर दे।

आहार मर्यादा

आहार की चर्चा करते हुए बताया है कि आठ ग्रास का आहार करने वाला अल्प-आहारी, बारह ग्रास का आहार करने वाला अपार्धावमौदरिक, सोलह ग्रास का आहार करने वाला द्विभागप्राप्त, चौबीस ग्रास का आहार करने वाला प्राप्तावमौदरिक, बत्तीस ग्रास का आहार करने वाला प्रमाणोपेताहारी एवं बत्तीस ग्रास से एक ही ग्रास कम खाने वाला अवमौदरिक कहलाता है।

नौवें उद्देशक में बताया है कि शय्यातर का आहारादि पर स्वामित्व हो या उसका कुछ अधिकार हो तो वह आहार श्रमण-श्रमणियों के लिए ग्राह्य नहीं है। इसमें भिक्षुप्रतिमाओं का भी उल्लेख है जिसकी चर्चा हम दशाश्रुतस्कन्ध के वर्णन में कर चुके हैं।

दसवें उद्देशक में यवमध्यचन्द्रप्रतिमा या वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि जो यव (जौ) के कण समान मध्य में मोटी और दोनों ओर पतली हो वह यवमध्यचन्द्रप्रतिमा है। जो वज्र के समान मध्य में पतली और दोनों ओर मोटी हो वह वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा है। यवमध्यचन्द्रप्रतिमा का धारक श्रमण एक मास पर्यन्त अपने शरीर के ममत्व को त्याग कर देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करता है और शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को एक दत्ति आहार की और एक दत्ति पानी की, द्वितीया को दो दत्ति आहार की और दो दत्ति पानी की ग्रहण करता है। इस प्रकार क्रमशः एक-एक दत्ति बढ़ाता हुआ पूर्णिमा को १५ दत्ति आहार की और १५ दत्ति पानी की ग्रहण करता है। कृष्णपक्ष में क्रमशः एक दत्ति कम करता जाता है और अमावस्या के दिन उपवास करता है। इसे यवमध्यचन्द्रप्रतिमा कहते हैं।

वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा में कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को १५ दत्ति आहार की और १५ दत्ति पानी की ग्रहण की जाती हैं। उसे प्रतिदिन कम करते हुए यावत् अमावस्या को एक दत्ति आहार की और एक दत्ति पानी की ग्रहण की जाती है। शुक्लपक्ष में क्रमशः एक-एक दत्ति बढ़ाते हुए पूर्णिमा को उपवास किया जाता है। इस प्रकार ३० दिन की प्रत्येक प्रतिमा के प्रारम्भ के २९ दिन दत्ति के अनुसार आहार और अन्तिम दिन उपवास किया जाता है।

व्यवहार के आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीतव्यवहार, ये पांच प्रकार हैं। इनमें आगम का स्थान प्रथम है और फिर क्रमशः इनकी चर्चा विस्तार से भाष्य में है।

स्थविर के जातिस्थविर, सूत्रस्थविर और प्रव्रज्यास्थविर, ये तीन भेद हैं। ६० वर्ष की आयु वाला श्रमण जातिस्थविर या वयःस्थविर कहलाता है। ठाणांग, समवायांग का ज्ञाता सूत्रस्थविर और दीक्षा धारण करने के २० वर्ष पश्चात् की दीक्षा वाले निर्ग्रन्थ प्रव्रज्यास्थविर कहलाते हैं।

शैक्ष भूमियाँ

शैक्ष भूमियाँ तीन प्रकार की हैं–सप्त-रात्रिदिनी, चातुर्मासिकी और षण्मासिकी। आठ वर्ष से कम उम्र वाले बालक-बालिकाओं को दीक्षा देना नहीं कल्पता। जिनकी उम्र लघु है वे आचारांगसूत्र के पढ़ने के अधिकारी नहीं हैं। कम से कम तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाले साधु को आचारांग पढ़ाना कल्प्य है। चार वर्ष की दीक्षापर्याय वाले को सूत्रकृतांग, पांच वर्ष की दीक्षापर्याय वाले को दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प (बृहत्कल्प) और व्यवहार, आठ वर्ष की दीक्षा वाले को स्थानांग और समवायांग, दस वर्ष की दीक्षा वाले को व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती), ग्यारह वर्ष की दीक्षा वाले को लघुविमान-प्रविभक्ति, महाविमान-प्रविभक्ति, अंगचूलिका, बंगचूलिका और विवाह-चूलिका, बारह वर्ष की दीक्षा वाले को अणोरुपपातिक, गरुलोपपातिक, धरणोपपातिक, वैश्रमणोपपातिक और वेलंधरोपपातिक, तेरह वर्ष की दीक्षा वाले को उपस्थानश्रुत, देवेन्द्रोपपात और नागपरियापनिका (नागपरियावणिआ), चौदह वर्ष की दीक्षा वाले को स्वप्नभावना, पन्द्रह वर्ष की दीक्षा वाले को चारणभावना, सोलह वर्ष की दीक्षा वाले को वेदनीशतक, सत्रह वर्ष की दीक्षा वाले को आशीविषभावना, अठारह वर्ष की दीक्षा वाले को दृष्टिविषभावना, उन्नीस वर्ष की दीक्षा वाले वाले को दृष्टिवाद और बीस वर्ष की दीक्षा वाले को सब प्रकार के शास्त्र पढ़ाना कल्प्य है।

वैयावृत्य

वैयावृत्य (सेवा) दस प्रकार की कही गई है–१. आचार्य की वैयावृत्य, २. उपाध्याय की वैयावृत्य, उसी प्रकार, ३. स्थविर की, ४. तपस्वी की, ५. शैक्ष-छात्र की, ६. ग्लान-रुग्ण की, ७. साधर्मिक की, ८. कुल की, ९. गण की और १०. संघ की वैयावृत्य।

उपर्युक्त दस प्रकार की वैयावृत्य से महानिर्जरा होती है।

उपसंहार

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र की अनेक विशेषताएँ हैं। इसमें स्वाध्याय पर विशेष रूप से बल दिया गया है, साथ ही अयोग्यकाल में स्वाध्याय करने का निषेध किया गया है। अनध्यायकाल की विवेचना की गई है। श्रमण-श्रमणियों के बीच अध्ययन की सीमाएँ निर्धारित की गईं हैं। आहार का कवलाहारी, अल्पाहारी, और ऊनोदरी का वर्णन है। आचार्य, उपाध्याय के लिए विहार के नियम प्रतिपादित किये गये हैं। आलोचना और प्रायश्चित्त की विधियों का इसमें विस्तृत विवेचन है। साध्वियों के निवास, अध्ययन, वैयावृत्य तथा संघ-व्यवस्था के नियमोपनियम का विवेचन है। इसके रचयिता श्रुतकेवली भद्रबाहु माने जाते हैं।

●●

दशाश्रुतस्कन्ध का व्याख्या साहित्य

आगम साहित्य के गुरु गम्भीर रहस्यों के उद्‌घाटन के लिए विविध व्याख्या साहित्य का निर्माण हुआ है। उस विराट आगम व्याख्यासाहित्य को हम पांच भागों में विभक्त कर सकते हैं–

(१) निर्युक्तियां (निज्जुत्ति)।

(२) भाष्य (भास)।

(३) चूर्णियां (चुण्णि)।

(४) संस्कृत टीकाएँ।

(५) लोकभाषा में लिखित व्याख्या साहित्य।

सर्वप्रथम प्राकृत भाषा में जो पद्यबद्ध टीकाएँ लिखी गईं वे निर्युक्तियों के नाम से विश्रुत हैं। निर्युक्तियों में मूल ग्रन्थ के प्रत्येक पद पर व्याख्या न कर मुख्य रूप से पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की गई है। उसकी शैली निक्षेप पद्धति की है। जो न्यायशास्त्र में अत्यधिक प्रिय रही। निक्षेप पद्धति में किसी एक पद के सम्भावित अनेक अर्थ करने के पश्चात् उनमें से अप्रस्तुत अर्थों का निषेध कर प्रस्तुत अर्थ ग्रहण किया जाता है। सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् शारपेण्टियर ने निर्युक्ति की परिभाषा इस प्रकार की है–"निर्युक्तियाँ अपने प्रधान भाग के केवल इण्डेक्स का काम करती हैं। वे सभी विस्तार युक्त घटनावलियों का संक्षेप में उल्लेख करती हैं।"

निर्युक्तिकार भद्रबाहु माने जाते हैं। वे कौन थे इस सम्बन्ध में हमने अन्य प्रस्तावनाओं में विस्तार से लिखा है। भद्रबाहु की दस निर्युक्तियाँ प्राप्त हैं। उसमें दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति भी एक है।

प्रथम श्रुतकेवली भद्रबाहु को नमस्कार किया गया है फिर दश अध्ययनों के अधिकारों का वर्णन है। प्रथम असमाधिस्थान में द्रव्य और भाव समाधि के सम्बन्ध में चिन्तन कर स्थान के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, श्रद्धा, ऊर्ध्व, चर्या, वसति, संयम, प्रग्रह, योध, गणन, संस्थान (संघाण) और भाव इन पन्द्रह निक्षेपों का वर्णन है।

द्वितीय अध्ययन में शबल का नाम आदि चार निक्षेप से विचार किया है। तृतीय अध्ययन में आशातना का विश्लेषण है। चतुर्थ अध्ययन में "गणि" और "सम्पदा" पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन करते हुए कहा गया है कि गणि और गुणी ये दोनों एकार्थक हैं। आचार ही प्रथम गणिस्थान है। सम्पदा के द्रव्य और भाव ये दो भेद हैं। शरीर द्रव्यसम्पदा है और आचार भावसम्पदा है। पंचम अध्ययन में चित्तसमाधि का निक्षेप की दृष्टि से विचार किया गया है। समाधि के चार प्रकार हैं। जब चित्त राग-द्वेष से मुक्त होता है, प्रशस्तध्यान में तल्लीन होता है तब भावसमाधि होती है। षष्ठ अध्ययन में उपासक और प्रतिमा पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया गया है। उपासक के द्रव्योपासक, तदर्थोपासक, मोहोपासक और भावोपासक ये चार प्रकार हैं। भावोपासक वही हो सकता है जिसका जीवन सम्यग्दर्शन के आलोक से जगमगा रहा हो। यहां पर श्रमणोपासक की एकादश प्रतिमाओं का निरूपण है। सप्तम अध्ययन में श्रमणप्रतिमाओं पर चिन्तन करते हुए भावश्रमणप्रतिमा के समाधिप्रतिमा, उपधानप्रतिमा, विवेकप्रतिमा, प्रतिसंलीन-प्रतिमा और विवेकप्रतिमा ये पाँच प्रकार बताये हैं। अष्टम अध्ययन में पर्युषणाकल्प पर चिन्तन कर परिवसना, पर्युषणा, पर्युपशमना, वर्षावास, प्रथम-समवसरण, स्थापना और ज्येष्ठग्रह को पर्यायवाची बताया है। श्रमण वर्षावास में एक स्थान पर स्थित रहता है और आठ माह तक वह परिभ्रमण करता है। नवम अध्ययन में मोहनीयस्थान पर विचार कर उसके पाप, वर्ज्य, वैर, पंक, पनक, क्षोभ, असात, संग, शल्य, प्रतर, निरति, धूर्त्य ये मोह के पर्यायवाची बताए गये हैं। दशम अध्ययन में जन्ममरण के मूल कारणों पर चिन्तन कर उससे मुक्त होने का उपाय बताया गया है।

निर्युक्ति साहित्य के पश्चात् भाष्य साहित्य का निर्माण हुआ, किन्तु दशाश्रुतस्कन्ध पर कोई भी भाष्य नहीं लिखा गया। भाष्य साहित्य के पश्चात् चूर्णि साहित्य का निर्माण हुआ। यह गद्यात्मक व्याख्या साहित्य है। इसमें शुद्ध प्राकृत और संस्कृत मिश्रित प्राकृत में व्याख्या लिखी गई है। चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर का नाम चूर्णि साहित्य में विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि का मूल आधार दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति है। इस चूर्णि में प्रथम मंगलाचरण किया गया है। उसके पश्चात् दस अध्ययनों के अधिकारों का विवेचन किया गया है। जो सरल और सुगम है। मूलपाठ में और चूर्णिसम्मत पाठ में कुछ अन्तर है। यह चूर्णि मुख्य रूप से प्राकृत भाषा में है। यत्र-तत्र संस्कृत शब्दों व वाक्यों के प्रयोग भी दिखाई देते हैं।

चूर्णि के पश्चात् संस्कृत टीकाओं का युग आया। उस युग में अनेक आगमों पर संस्कृत भाषा में टीकाएँ लिखी गईं। ब्रह्ममुनि (ब्रह्मर्षि) ने दशाश्रुतस्कन्ध पर एक टीका लिखी है तथा आचार्य घासीलालजी म. ने दशाश्रुतस्कन्ध पर संस्कृत में व्याख्या लिखी और आचार्य सम्राट आत्मारामजी म. ने दशाश्रुतस्कन्ध पर हिन्दी में टीका लिखी। और आचार्य अमोलकऋषिजी म. ने सर्वप्रथम हिन्दी अनुवाद लिखा।

मणिविजयजी गणि ग्रन्थमाला भावनगर से दशाश्रुतस्कन्ध मूल निर्युक्ति चूर्णि सहित वि. सं. २०११ में प्रकाशित हुआ।

सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद हैदराबाद से वीर सं. २४४५ में अमोलकऋषिजी कृत हिन्दी अनुवाद दशाश्रुतस्कन्ध का प्रकाशित हुआ।

जैन शास्त्रमाला कार्यालय सैदमिट्ठा बाजार लाहौर से आचार्य आत्मारामजी म. कृत सन् १९३६ में हिन्दी टीका प्रकाशित हुई।

संस्कृत व्याख्या व हिन्दी अनुवाद के साथ जैन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट से सन् १९६० में घासीलालजी म. का दशाश्रुतस्कन्ध प्रकाशित हुआ।

आगम अनुयोग प्रकाशन साण्डेराव से आयार-दशा के नाम से मूलस्पर्शी अनुवाद सन् १९८१ में प्रकाशित हुआ। यत्र-तत्र उसमें विशेषार्थ भी दिया गया है।

आगम प्रकाशन समिति ब्यावर से त्रीणि-छेद सूत्राणि नाम से तीन छेद सूत्रों का एक पुस्तकाकार प्रकाशन हुआ है। इसका सम्पादन आगम साहित्य के मर्मज्ञ मनीषी मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल' ने किया है। यह सम्पादन सुन्दर ही नहीं अति सुन्दर है। आगम के रहस्य का तथा श्रमणाचार के विभिन्न उलझे हुए प्रश्नों का उन्होंने प्राचीन व्याख्या साहित्य के आधार से तटस्थ चिन्तनपरक समाधान प्रस्तुत किया है। स्वल्प शब्दों में विषय को स्पष्ट करना सम्पादक मुनिजी की विशेषता है। इस सम्पादन में उनका गम्भीर पाण्डित्य यत्र-तत्र मुखरित हुआ है।

●●

बृहत्कल्प का व्याख्या साहित्य

बृहत्कल्पनिर्युक्ति–दशाश्रुतस्कन्ध की तरह बृहत्कल्पनिर्युक्ति लिखी गई है। उसमें सर्वप्रथम तीर्थंकरों को नमस्कार कर ज्ञान के विविध भेदों पर चिन्तन कर इस बात पर प्रकाश डाला है कि ज्ञान और मंगल में कथंचित् अभेद है। अनुयोग पर नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, वचन और भाव इन सात निक्षेपों से चिन्तन किया है। जो पश्चाद्भूत योग है वह अनुयोग है अथवा जो स्तोक रूप योग है वह अनुयोग है। कल्प के उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय ये चार अनुयोगद्वार हैं। कल्प और व्यवहार का अध्ययन चिन्तन करने वाला मेधावी सन्त बहुश्रुत, चिरव्रजित, कल्पिक, अचंचल, अवस्थित, अपरिश्रावी, विज्ञ, प्राप्तानुज्ञात और भावपरिणामक होता है।

इसमें ताल-प्रलम्ब का विस्तार से वर्णन है, और उसके ग्रहण करने पर प्रायश्चित्त का भी विधान है। ग्राम, नगर, खेड़, कर्बटक, मडम्ब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम, राजधानी, आश्रम, निवेश, संबाध, घोष, अंशिका आदि पदों पर भी निक्षेपदृष्टि से चिन्तन किया है। जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक पर भी प्रकाश डाला है। आर्य पद पर विचार करते हुए नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, जाति, कुल, कर्म, भाषा, शिल्प, ज्ञान, दर्शन, चारित्र इन बारह निक्षेपों से चिन्तन किया है। आर्यक्षेत्र में विचरण करने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र की अभिवृद्धि होती है। अनार्य क्षेत्रों में विचरण करने से अनेक दोषों के लगने की सम्भावना रहती है। स्कन्दकाचार्य के दृष्टान्त को देकर इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है। साथ ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि हेतु अनार्य क्षेत्र में विचरण करने का आदेश दिया है और उसके लिए राजा सम्प्रति का दृष्टान्त भी दिया गया है।

श्रमण और श्रमणियों के आचार, विचार, आहार, विहार का संक्षेप में बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है। सर्वत्र निक्षेप पद्धति से व्याख्यान किया गया है। यह निर्युक्ति स्वतन्त्र न रहकर बृहत्कल्पभाष्य में मिश्रित हो गई है।

बृहत्कल्प-लघुभाष्य–बृहत्कल्प लघुभाष्य संघदासगणी की एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें बृहत्कल्पसूत्र के पदों का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। लघुभाष्य होने पर भी इसकी गाथा संख्या ६४९० है। यह छह

उद्देश्यों में विभक्त है। भाष्य के प्रारम्भ में एक सविस्तृत पीठिका दी गई है। जिसकी गाथा संख्या ८०५ है। इस भाष्य में भारत की महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक सामग्री का संकलन-आकलन हुआ है। इस सांस्कृतिक सामग्री के कुछ अंश को लेकर डॉ. मोतीचन्द ने अपनी पुस्तक "सार्थवाह" में "यात्री और सार्थवाह" का सुन्दर आकलन किया है। प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता का अध्ययन करने के लिए इसकी सामग्री विशेष उपयोगी है। जैन श्रमणों के आचार का हृदयग्राही, सूक्ष्म, तार्किक विवेचन इस भाष्य की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

पीठिका में मंगलवाद, ज्ञानपंचक में श्रुतज्ञान के प्रसंग पर विचार करते हुए सम्यक्त्वप्राप्ति का क्रम और औपशमिक, सास्वादन, क्षायोपशमिक, वेदक और क्षायिक सम्यक्त्व के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। अनुयोग का स्वरूप बताकर निक्षेप आदि बारह प्रकार के द्वारों से उस पर चिन्तन किया है। कल्पव्यवहार पर विविध दृष्टियों से चिन्तन करते हुए यत्र-तत्र विषय को स्पष्ट करने के लिए दृष्टान्तों का भी उपयोग हुआ है।

पहले उद्देशक की व्याख्या में ताल-वृक्ष से सम्बन्धित विविध प्रकार के दोष और प्रायश्चित्त, ताल-प्रलम्ब के ग्रहण सम्बन्धी अपवाद, श्रमण-श्रमणियों को देशान्तर जाने के कारण और उसकी विधि, श्रमणों की अस्वस्थता के विधि-विधान, क्षेत्रों के आठ प्रकार बताये हैं। दुष्काल प्रभृति विशेष परिस्थिति में श्रमण-श्रमणियों के एक दूसरे के अवगृहीत क्षेत्र में रहने की विधि, उसके १४४ भंग और तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त आदि का वर्णन है। ग्राम, नगर, खेड, कर्वटक, मडम्ब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम, राजधानी, आश्रम, निवेश, संबाध, अंशिका, पुटभेदन, शंकर प्रभृति पदों पर विवेचन किया है। नक्षत्रमास, चन्द्रमास, ऋतुमास, आदित्यमास और अभिवर्धितमास का वर्णन है। जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक की क्रियाएँ, समवसरण, तीर्थंकर, गणधर, आहारकशरीरी, अनुत्तरदेव, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि की शुभ और अशुभ कर्मप्रकृतियां, तीर्थंकर की भाषा का विभिन्न भाषाओं में परिणमन, आपणगृह, रथ्यामुख, शृङ्गाटक, चतुष्क, चत्वर, अन्तरापण आदि पदों पर प्रकाश डाला गया है और उन स्थानों पर बने हुए उपाश्रयों में रहने वाली श्रमणियों को जिन दोषों के लगने की सम्भावना है उनकी चर्चा की गई है।

भाष्यकार ने द्रव्य ग्राम के बारह प्रकार बताये हैं–

(१) उत्तानकमल्लक, (२) अवाङ्मुखमल्लक, (३) सम्पुटमल्लक, (४) उत्तानकखण्डमल्लक, (५) अवाङ् मुखखण्डमल्लक, (६) सम्पुटखण्डमल्लक, (७)

भिति, (८) पडालि, (९) वलाभि, (१०) अक्षाटक, (११) रुचक, (१२) काश्यपक।

तीर्थंकर, गणधर और केवली के समय ही जिनकल्पिक मुनि होते हैं। जिनकल्पिक मुनि की समाचारी का वर्णन सत्ताईस द्वारों से किया है–(१) श्रुत, (२) संहनन, (३) उपसर्ग, (४) आतंक, (५) वेदना, (६) कतिजन, (७) स्थंडिल, (८) वसति, (९) कियाच्चिर, (१०) उच्चार, (११) प्रस्रवण, (१२) अवकाश, (१३) तृणफलक, (१४) संरक्षणता, (१५) संस्थापनता, (१६) प्राभृतिका, (१७) आग्नि, (१८) दीप, (१९) अवधान, (२०) वत्स्यक्ष, (२१) भिक्षाचर्या, (२२) पानक, (२३) लेपालेप, (२४) लेप, (२५) आचाम्ल (२६) प्रतिमा, (२७) मासकल्प। जिनकल्पिक की स्थिति पर चिन्तन करते हुए–क्षेत्र, काल, चारित्र, तीर्थ, पर्याय, आगम, वेद, कल्प, लिंग, लेश्या, ध्यान, गणना, अभिग्रह, प्रव्राजना, मुण्डापना, प्रायश्चित्त, कारण, निष्प्रतिकर्म और भक्त इन द्वारों से प्रकाश डाला है। इसके पश्चात् परिहारविशुद्धिक और यथालन्दिक कल्प का स्वरूप बताया है।

स्थविरकल्पिक की प्रव्रज्या, शिक्षा, अर्थग्रहण, अनियतवास और निष्पत्ति ये सभी जिनकल्पिक के समान हैं।

श्रमणों के विहार पर प्रकाश डालते हुए विहार का समय, विहार करने से पहले गच्छ के निवास एवं निर्वाह योग्य या अयोग्य क्षेत्र, प्रत्युप्रेक्षकों का निर्वाचन, क्षेत्र की प्रतिलेखना के लिए किस प्रकार गमनागमन करना चाहिए, विहार मार्ग एवं स्थंडिल भूमि, जल, विश्रामस्थान, भिक्षा, वसति, उपद्रव आदि की परीक्षा, प्रतिलेखनीय क्षेत्र में प्रवेश करने की विधि, भिक्षा से वहाँ के मानवों के अन्तर्मानस की परीक्षा, भिक्षा, औषध आदि की प्राप्ति में सरलता व कठिनता का परिज्ञान, विहार करने से पूर्व वसति के अधिपति की अनुमति, विहार करने से पूर्व शुभ शकुन देखना आदि का वर्णन है।

स्थविरकल्पिकों की समाचारी में इन बातों पर प्रकाश डाला है–

१. **प्रतिलेखना**–वस्त्र आदि की प्रतिलेखना का समय, प्रतिलेखना के दोष और उनका प्रायश्चित्त।

२. **निष्क्रमण**–उपाश्रय से बाहर निकलने का समय।

३. **प्राभृतिका**–गृहस्थ के लिए जो मकान तैयार किया है, उसमें रहना चाहिए या नहीं रहना चाहिए। तत्सम्बन्धी विधि व प्रायश्चित्त।

४. **भिक्षा**–भिक्षा के लेने का समय और भिक्षा सम्बन्धी आवश्यक वस्तुएँ।

५. **कल्पकरण**–पात्र को स्वच्छ करने की विधि, लेपकृत और अलेपकृत पात्र, पात्र-लेप से लाभ।

६. **गच्छशतिकादि**–आधाकर्मिक, स्वगृहयतिमिश्र, . स्वगृपाषण्डमिश्र, यावदार्थिकमिश्र, क्रीतकृत, पूतिकार्मिक और आत्मार्थकृत तथा उनके अवान्तर भेद।

७. **अनुयान**–रथयात्रा का वर्णन और उस सम्बन्धी दोष।

८. **पुरःकर्म**–भिक्षा लेने से पूर्व सचित्त जल से हाथ आदि साफ करने से लगने वाले दोष।

९. **ग्लान**–ग्लान-रुग्ण श्रमण की सेवा से होने वाली निर्जरा, उसके लिए पथ्य की गवेषणा, चिकित्सा के लिए वैद्य के पास ले जाने की विधि, वैद्य से वार्तालाप करने का तरीका, रुग्ण श्रमण को उपाश्रय, गली आदि में छोड़कर चले जाने वाले आचार्य को लगने वाले दोष और उनके प्रायश्चित्त का विधान।

१०. **गच्छप्रतिबद्ध यथालंदिक**–वाचना आदि कारणों से गच्छ से सम्बन्ध रखने वाले यथालंदिक कल्पधारियों के साथ वन्दन आदि व्यवहार तथा मासकल्प की मर्यादा।

११. **उपरिदोष**–वर्षाऋतु के अतिरिक्त समय में एक क्षेत्र में एक मास से अधिक रहने से लगने वाले दोष।

१२. **अपवाद**–एक क्षेत्र में एक मास से अधिक रहने के आपवादिक कारण, श्रमण-श्रमणियों की भिक्षाचर्या की विधि पर भी प्रकाश डाला है। साथ ही यह भी बताया है कि यदि ग्राम, नगर आदि दुर्ग के अन्दर और बाहर दो भागों में विभक्त हो तो अन्दर और बाहर मिलाकर दो मास तक रह सकते हैं।

श्रमणियों के आचारसम्बन्धी विधि-विधानों पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि निर्ग्रन्थी के मासकल्प की मर्यादा, विहार-विधि, समुदाय का प्रमुख और उसके द्वारा क्षेत्र की प्रतिलेखना, बौद्ध श्रावकों द्वारा भड़ौच में श्रमणियों का अपहरण, श्रमणियों के योग्य क्षेत्र, वसति, विधर्मी से उपद्रव की रक्षा, भिक्षाहेतु जाने वाली श्रमणियों की संख्या, वर्षावास के अतिरिक्त श्रमणी को एक स्थान पर अधिक से अधिक कितना रहना, उसका विधान है।

स्थविरकल्प और जिनकल्प इन दोनों अवस्थाओं में कौनसी अवस्था प्रमुख है, इस पर चिन्तन करते हुए भाष्यकार ने निष्पादक और निष्पन्न इन दोनों

दृष्टियों से दोनों की प्रमुखता स्वीकार की है। सूत्र अर्थ आदि दृष्टियों से स्थविरकल्प जिनकल्प का निष्पादक है। जिनकल्प ज्ञान-दर्शन-चारित्र प्रभृति दृष्टियों से निष्पन्न है। विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से गुहासिंह, दो महिलाएँ और दो वर्गों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

एक प्राचीर और एक द्वार वाले ग्राम-नगर आदि में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को नहीं रहना चाहिए, इस सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन किया है। श्रमण-श्रमणियों को किस स्थान में रहना चाहिए, इस पर विविध दृष्टियों से चिन्तन किया गया है।

व्यवशमन प्रकृत सूत्र में इस बात पर चिन्तन किया है कि श्रमणों में परस्पर वैमनस्य हो जाये तो उपशमन धारण करके क्लेश को शान्त करना चाहिए। जो उपशमन धारण करता है वह आराधक है, जो नहीं करता है वह विराधक है। आचार्य को श्रमण-श्रमणियों में क्लेश होने पर उसकी उपशान्ति हेतु उपेक्षा करने पर प्रायश्चित्त का विधान है। परस्पर के झगड़े को शान्त करने की विधि प्रतिपादित की गई है।

चार प्रकृत सूत्र में बताया है कि श्रमण-श्रमणियों को वर्षाऋतु में एक गांव से दूसरे गांव नहीं जाना चाहिए। यदि गमन करता है तो प्रायश्चित्त आता है। यदि आपवादिक कारणों से विहार करने का प्रसंग उपस्थित हो तो उसे यतना से गमन करना चाहिए।

अवग्रहसूत्र में बताया है कि भिक्षा या शौचादि भूमि के लिए जाते हुए श्रमण को गृहपति वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि ग्रहण करने की प्रार्थना करे तो उसे लेकर आचार्य आदि को प्रदान करे और उनकी आज्ञा प्राप्त होने पर उसका उपयोग करे।

रात्रिभक्त प्रकृत सूत्र में बताया है कि रात्रि या विकाल में अशन पान आदि ग्रहण करना नहीं चाहिए और न वस्त्र आदि को ग्रहण करना चाहिए । रात्रि और विकाल में अध्वगमन का भी निषेध किया गया है। अध्व के दो भेद हैं– पन्थ और मार्ग। जिसके बीच में ग्राम, नगर आदि कुछ भी न आए वह पन्थ है और जिसके बीच ग्राम नगर आये वह मार्ग है। सार्थ के भंडी, बहिलक, भारवह, औदरिक, कार्पटिक, ये पांच प्रकार हैं। आठ प्रकार के सार्थवाह और आठ प्रकार के सार्थ-व्यवस्थापकों का उल्लेख है। विहार के लिए आर्यक्षेत्र ही विशेष रूप से उपयुक्त है। आर्य पद पर नाम आदि बारह निक्षेपों से विचार किया है। आर्य जातियां अम्बष्ठ, कलिन्द, वैदेह, विदक, हरित, तन्तुण ये छह हैं और आर्य

कुल भी उग्र, भोग, राजन्य, क्षत्रिय, ज्ञात-कौरव और इक्ष्वाकु यह छह प्रकार के हैं। आगे उपाश्रय सम्बन्धी विवेचन में उपाश्रय के व्याघातों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। जिसमें शालि व्रीहि आदि सचित्त धान्य कण बिखरे हुए हों उस बीजाकीर्ण स्थान पर श्रमण को नहीं रहना चाहिए और न सुराविकट कुम्भ, शीतोदकविकटकुम्भ, ज्योति, दीपक, पिण्ड, दुग्ध, दही, नवनीत आदि पदार्थों से युक्त स्थान पर ही रहना चाहिए। सागारिक के आहारादि के त्याग की विधि, अन्य स्थान से आई हुई भोजनसामग्री के दान की विधि, सागारिक का पिण्डग्रहण, विशिष्ट व्यक्तियों के निमित्त बनाये हुए भक्त, उपकरण आदि का ग्रहण, रजोहरण ग्रहण करने की विधि बताई है। पांच प्रकार के वस्त्र–(१) जांगिक, (२) भांगिक, (३) सानक, (४) पोतक, (५) तिरीटपट्टक, पांच प्रकार के रजोहरण–(१) और्णिक, (२) औष्ट्रिक, (३) सानक, (४) वच्चकचिप्पक, (५) मुंजचिप्पक–इनके स्वरूप और ग्रहण की विधि बताई गई है।

तृतीय उद्देशक में निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों के परस्पर उपाश्रय में प्रवेश करने की विधि बताई है। कृत्स्न और अकृत्स्न, भिन्न और अभिन्न, वस्त्रादि ग्रहण, नवदीक्षित श्रमण-श्रमणियों की उपधि पर चिन्तन किया है। उपधिग्रहण की विधि, वन्दन आदि का विधान किया है। वस्त्र फाड़ने में होने वाली हिंसा-अहिंसा पर चिन्तन करते हुए द्रव्यहिंसा और भावहिंसा पर विचार किया है। हिंसा में जितनी अधिक राग आदि की तीव्रता होगी उतना ही तीव्र कर्मबन्धन होगा। हिंसक में ज्ञान और अज्ञान के कारण कर्मबन्ध, अधिकरण की विविधता से कर्मबन्ध में वैविध्य आदि पर चिन्तन किया गया है।

चतुर्थ उद्देशक में हस्तकर्म आदि के प्रायश्चित्त का विधान है। मैथुनभाव रागादि से कभी रहित नहीं हो सकता। अतः उसका अपवाद नहीं है। पण्डक आदि को प्रव्रज्या देने का निषेध किया है।

पंचम उद्देशक में गच्छ सम्बन्धी, शास्त्र स्मरण और तद्विषयक व्याघात, क्लेशयुक्त मन से गच्छ में रहने से अथवा स्वगच्छ का परित्याग कर अन्य गच्छ में चले जाने से लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त, निःशंक और सशंक रात्रिभोजन, उद्गार-वमन आदि विषयक दोष और उसका प्रायश्चित्त, आहार आदि के लिए प्रयत्न आदि पर प्रकाश डाला गया है। श्रमणियों के लिए विशेष रूप से विधि-विधान बताये गये हैं।

षष्ठ उद्देशक में निर्दोष वचनों का प्रयोग और मिथ्या वचनों का अप्रयोग, प्राणातिपात आदि के प्रायश्चित्त, कण्टक के उद्धरण, विपर्यासजन्य दोष,

प्रायश्चित्त अपवाद का वर्णन है। श्रमण-श्रमणियों को विषम मार्ग से नहीं जाना चाहिए। जो निर्ग्रन्थी विक्षिप्तचित्त हो गई है उसके कारणों को समझकर उसके देख-रेख की व्यवस्था और चिकित्सा आदि के विधि-निषेधों का विवेचन किया गया है। श्रमणों के लिए छह प्रकार के परिमन्थु व्याघात माने गये हैं–(१) कौत्कुचित (२) मौखरिक (३) चक्षुर्लोल (४) तिंतिणिक (५) इच्छालोम (६) भिज्जानिदानकरण–इनका स्वरूप, दोष और अपवाद आदि पर चिन्तन किया है।

कल्पस्थिति प्रकृत में छह प्रकार की कल्पस्थितियों पर विचार किया है–(१) सामायिककल्पस्थिति, (२) छेदोपस्थानीयकल्पस्थिति, (३) निर्विशमानकल्पस्थिति, (४) निर्विष्टकायिककल्पस्थिति, (५) जिनकल्पस्थिति, (६) स्थविरकल्पस्थिति। छेदोपस्थापनीयकल्पस्थिति के आचेलक्य, औद्देशिक आदि दस कल्प हैं। उसके अधिकारी और अनधिकारी पर भी चिन्तन किया गया है।

प्रस्तुत भाष्य में यत्र-तत्र सुभाषित बिखरे पड़े हैं, यथा–हे मानवो! सदा-सर्वदा जाग्रत रहो, जाग्रत मानव की बुद्धि का विकास होता है, जो जागता है वह सदा धन्य है।

"जागरह नरा णिच्चं,
जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धि।
सो सुवति ण सो धण्णं,
जो जग्गति सो सया धण्णो॥

शील और लज्जा ही नारी का भूषण है। हार आदि आभूषणों से नारी का शरीर विभूषित नहीं हो सकता। उसका भूषण तो शील और लज्जा ही है। सभा में संस्कार रहित असाधुवादिनी वाणी प्रशस्त नहीं कही जा सकती ।

इस प्रकार प्रस्तुत भाष्य में श्रमणों के आचार-विचार का तार्किक दृष्टि से बहुत ही सूक्ष्म विवेचन किया गया है। उस युग की सामाजिक सांस्कृतिक धार्मिक राजनीतिक स्थितियों पर भी खासा अच्छा प्रकाश पड़ता है। अनेक स्थलों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सुन्दर विश्लेषण हुआ है। जैन साहित्य के इतिहास में ही नहीं, अपितु भारतीय साहित्य में इस ग्रन्थरत्न का अपूर्व और अनूठा स्थान है।

बृहत्कल्पचूर्णि

इस चूर्णि का आधार मूलसूत्र व लघुभाष्य है। दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि का और बृहत्कल्पचूर्णि का प्रारम्भिक अंश प्रायः मिलता-जुलता है। भाषाविज्ञों का मन्तव्य

है कि बृहत्कल्पचूर्णि से दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि प्राचीन है। यह सम्भव है कि ये दोनों ही चूर्णियाँ एक ही आचार्य की हों।

प्रस्तुतः चूर्णि में पीठिका और छह उद्देशक है। प्रारम्भ में ज्ञान के स्वरूप पर चिन्तन किया गया है। अभिधान और अभिधेय को कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न बताते हुए वृक्ष शब्द के छह भाषाओं में पर्याय दिये हैं। जिसे संस्कृत में वृक्ष कहते हैं वही प्राकृत में रुक्ख, मगध में ओदण, लाट में कूर, दमिल-तमिल में चोर और आन्ध्र में इडाकु कहा जाता है।

चूर्णि में तत्त्वार्थाधिगम, विशेषावश्यकभाष्य, कर्मप्रकृति, महाकल्प, गोविन्दनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों का उल्लेख किया है। भाषा संस्कृतमिश्रित प्राकृत है। चूर्णि में प्रारम्भ से अन्त तक लेखक के नाम का निर्देश नहीं हुआ है।

बृहत्कल्पपीठिकावृत्ति

प्रस्तुत वृत्ति भद्रबाहु स्वामी विरचित बृहत्कल्पनिर्युक्ति एवं संघदासगणी विरचित लघुभाष्य पर है। आचार्य मलयगिरि पीठिका की भाष्य गाथा ६०६ पर्यन्त ही अपनी वृत्ति लिख सके। आगे उन्होंने वृत्ति नहीं लिखी है। आगे की वृत्ति आचार्य क्षेमकीर्ति ने पूर्ण की है। जैसा कि स्वयं क्षेमकीर्ति ने भी स्वीकार किया है।[1]

वृत्ति के आरम्भ में वृत्तिकार ने जिनेश्वर देव को प्रणाम कर सद्गुरुदेव का स्मरण किया है तथा भाष्यकार और चूर्णिकार के प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त की है। वृत्तिकार ने बृहत्कल्प एवं व्यवहारसूत्र के निर्माताओं के सम्बन्ध में लिखा है कि चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु स्वामी ने श्रमणों के अनुग्रहार्थ कल्प और व्यवहार की रचना की जिससे कि प्रायश्चित्त का व्यवच्छेद न हो। उन्होंने सूत्र के गम्भीर रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए निर्युक्ति की ही रचना की है और जिनमें प्रतिभा की तेजस्विता का अभाव है उन अल्पबुद्धि वाले व्यक्तियों के लिए भाष्यकार ने भाष्य का निर्माण किया है। वह निर्युक्ति और भाष्य सूत्र के अर्थ को प्रकट करने वाले होने से दोनों एक ग्रन्थ रूप हो गये। वृत्ति में प्राकृत गाथाओं का उद्धरण के रूप में प्रयोग हुआ है और विषय को सुबोध बनाने की दृष्टि से प्राकृत कथाएँ उद्धृत की गई हैं। प्रस्तुत मलयगिरि वृत्ति का ग्रन्थमान ४६०० श्लोक प्रमाण है।

---

१. श्री मलयगिरी प्रभवो, यां कर्त्तुमुपाक्रमन्त मतिमन्तः।
सा कल्पशास्त्र टीका मयाऽनुसन्धीयतेऽल्पधिया॥ —बृहत्कल्पपीठिकावृत्ति, पृ. १७७

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य मलयगिरि शास्त्रों के गम्भीर ज्ञाता थे। विभिन्न दर्शनशास्त्रों का जैसा और जितना गम्भीर विवेचन एवं विश्लेषण उनकी टीकाओं में उपलब्ध है, वैसा अन्यत्र कहीं पर भी उपलब्ध नहीं है। वे अपने युग के महान् तत्त्वचिन्तक, प्रसिद्ध टीकाकार और महान् व्याख्याता थे। आगमों के गुरुगम्भीर रहस्यों को तर्कपूर्ण शैली में प्रस्तुत करने की उनकी क्षमता अद्‌भुत थी, अनूठी थी।

सौभाग्यसागर ने बृहत्कल्प पर संस्कृत भाषा में एक टीका लिखी।

बृहत्कल्पनिर्युक्ति, लघुभाष्य तथा मलयगिरि, क्षेमकीर्ति कृत टीका सहित सन् १९३३ से १९४१ तक श्री जैन आत्मानन्द सभा भावनगर सौराष्ट्र से प्रकाशित हुई। प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्पादन चतुरविजयजी और पुण्यविजयजी ने किया। सम्पादनकला की दृष्टि से यह सम्पादन उत्कृष्ट कहा जा सकता है।

बृहत्कल्प एक अज्ञात टीकाकार की टीका सहित सम्यक्‌ज्ञान प्रचारक मण्डल जोधपुर से प्रकाशित हुआ। सन् १९२३ में जर्मन टिप्पणी आदि के साथ W. Schubring Lepizig 1905 मूल मात्र नागरीलिपि में–पूना, १९२३।

सन् १९१५ में डॉ. जीवराज घेलाभाई दोशी ने गुजराती अनुवाद सहित अहमदाबाद से प्रकाशित किया, और आचार्य अमोलकऋषिजी म. ने हिन्दी अनुवाद सहित सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद जौहरी ने हैदराबाद से प्रकाशित किया। ई. सन् १९७७ में आगम अनुयोग प्रकाशन साण्डेराव से "कप्पसुत्तं" के नाम से मूलानुस्पर्शी अनुवाद और विशेष अर्थ के साथ प्रकाशित हुआ।

● ●

व्यवहारसूत्र का व्याख्या साहित्य

व्यवहार श्रमण जीवन की साधना का एक जीवन्त भाष्य है। व्यवहारनिर्युक्ति में उत्सर्ग और अपवाद का विवेचन है। इस निर्युक्ति पर भाष्य भी है। जो अधिक विस्तृत है। बृहत्कल्प और व्यवहार की निर्युक्ति परस्पर शैली भाव-भाषा की दृष्टि से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। दोनों में साधना के तथ्य व सिद्धान्त प्रायः समान हैं। यह निर्युक्ति भाष्य में विलीन हो गई है।

व्यवहारभाष्य

हम पूर्व में ही बता चुके हैं कि व्यवहारभाष्य के रचयिता का नाम अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। बृहत्कल्पभाष्य के समान ही इस भाष्य में भी निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों के आचार-विचार पर प्रकाश डाला है।

सर्वप्रथम पीठिका में व्यवहार, व्यवहारी एवं व्यवहर्तव्य के स्वरूप की चर्चा की गई है। व्यवहार में दोष लगने की दृष्टि से प्रायश्चित्त का अर्थ, भेद, निमित्त, अध्ययन विशेष, तदर्हपर्षद आदि का विवेचन किया गया है और विषय को स्पष्ट करने के लिये अनेक दृष्टान्त भी दिये गये हैं। इसके पश्चात् भिक्षु, मासपरिहार, स्थानप्रतिसेवना, आलोचना आदि पदों पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया है। आधाकर्म से सम्बन्धित अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार के लिए पृथक्-पृथक् प्रायश्चित्त का विधान है। मूलगुण और उत्तरगुण इन दोनों की विशुद्धि प्रायश्चित्त से होती है। अतिक्रम के लिए मासगुरु और काललघु, अतिचार के लिए तपोगुरु और कालगुरु और अनाचार के लिये चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का विधान है।

पिण्डविशुद्धि समिति भावना तप प्रतिमा और अभिग्रह ये सभी उत्तरगुण में हैं। इनके क्रमशः बयालीस, आठ, पच्चीस, बारह, बारह और चार भेद होते हैं। प्रायश्चित्त करने वाले पुरुष के निर्गत और वर्तमान ये दो प्रकार हैं। जो तपोर्ह प्रायश्चित्त से अतिक्रान्त हो गये हैं वे निर्गत हैं और जो विद्यमान हैं वे वर्तमान हैं। उनके भी भेद-प्रभेद किये गये हैं।

प्रायश्चित्त के योग्य पुरुष चार प्रकार के होते हैं–

१. उभयतर–जो संयम तप की साधना करता हुआ भी दूसरों की सेवा कर सकता है।

२. आत्मतर–जो केवल तप ही कर सकता है।

३. परतर–जो कवल सेवा ही कर सकता है।

४. अन्यतर–जो तप और सेवा दोनों में से किसी एक समय में एक का ही सेवन कर सकता है।

आलोचना आलोचनार्ह और आलोचक के बिना नहीं होती। आलोचनार्ह स्वयं आचारवान, आधारवान, व्यवहारवान, अपव्रीडक, प्रकुर्वी, निर्यापक, अपायदर्शी और अपरिश्रावी, इन गुणों से युक्त होता है। आलोचक भी जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न, विनयसम्पन्न, ज्ञानसम्पन्न, दर्शनसम्पन्न, चरणसम्पन्न, क्षान्त, दान्त, अमायी और अपश्चात्तापी इन दस गुणों से युक्त होता है। साथ ही आलोचना के दोष, तद्विषयभूत द्रव्य आदि, प्रायश्चित्त देने की विधि आदि पर भी भाष्यकार ने चिन्तन किया है।

परिहारतप के वर्णन में सेवा का विश्लेषण किया गया है और सुभद्रा और मृगावती के उदाहरण भी दिये गये हैं। आरोपणा के प्रस्थापनिका, स्थापिता, कृत्स्ना, अकृत्स्ना और हाडहडा ये पाँच प्रकार बताये हैं तथा इन पर विस्तार से चर्चा की है।

शिथिलता के कारण गच्छ का परित्याग कर पुनः गच्छ में सम्मिलित होने के लिए विविध प्रकार के प्रायश्चित्तों का वर्णन है। पार्श्वस्थ, यथाच्छन्द, कुशील, अवसन्न और संसक्त के स्वरूप पर प्रकाश डाला है।

श्रमणों के विहार की चर्चा करते हुए एकाकी विहार का निषेध किया है और उनको लगने वाले दोषों का निरूपण किया है।

विविध प्रकार के तपस्वी व व्याधियों से संसक्त श्रमण की सेवा का विधान करते हुए क्षिप्तचित्त और दीप्तचित्त की सेवा करने की मनोवैज्ञानिक पद्धति पर प्रकाश डाला है। क्षिप्तचित्त के राग, भय और अपमान तीन कारण हैं। दीप्तचित्त का कारण सम्मान है। सम्मान होने पर उसमें मद पैदा होता है। शत्रुओं को पराजित करने के कारण वह मद से उन्मत्त होकर दीप्तचित्त हो जाता है। क्षिप्तचित्त और दीप्तचित्त में मुख्य अन्तर यह है कि क्षिप्तचित्त प्रायः मौन रहता है और दीप्तचित्त बिना प्रयोजन के भी बोलता रहता है।

भाष्यकार ने गणावच्छेदक, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर, प्रवर्तिनी आदि पदवियों को धारण करने वाले की योग्यताओं पर विचार किया है। जो ग्यारह अंगों के ज्ञाता हैं, नवम पूर्व के ज्ञाता हैं, कृतयोगी हैं, बहुश्रुत हैं, बहुत आगमों के परिज्ञाता हैं, सूत्रार्थ विशारद हैं, धीर हैं, श्रुतनिघर्ष हैं, महाजन हैं वे विशिष्ट व्यक्ति ही आचार्य आदि विशिष्ट पदवियों को धारण कर सकते हैं।

श्रमणों के विहार सम्बन्धी नियमोपनियमों पर विचार करते हुए कहा है कि आचार्य, उपाध्याय आदि पदवीधरों को कम से कम कितने सन्तों के साथ रहना चाहिए, आदि विविध विधि-विधानों का निरूपण है। आचार्य, उपाध्याय के पांच अतिशय होते हैं, जिनका श्रमणों को विशेष लक्ष्य रखना चाहिए-

१. उनके बाहर जाने पर पैरों को साफ करना।

२. उनके उच्चार-प्रश्रवण को निर्दोष स्थान पर परठना।

३. उनकी इच्छानुसार वैयावृत्य करना।

४. उनके साथ उपाश्रय के भीतर रहना।

५. उनके साथ उपाश्रय के बाहर जाना।

श्रमण किसी महिला को दीक्षा दे सकता है और दीक्षा के बाद उसे साध्वी को सौंप देना चाहिए। साध्वी किसी भी पुरुष को दीक्षा नहीं दे सकती। उसे योग्य श्रमण के पास दीक्षा के लिए प्रेषित करना चाहिए। श्रमणी एक संघ में दीक्षा ग्रहण कर दूसरे संघ में शिष्या बनना चाहे तो उसे दीक्षा नहीं देनी चाहिए। उसे जहाँ पर रहना हो वहीं पर दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए, किन्तु श्रमण के लिए यह नियम नहीं है। तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाला उपाध्याय और ५ वर्ष की दीक्षापर्याय वाला आचार्य बन सकता है।

वर्षावास के लिए ऐसा स्थान श्रेष्ठ बताया है, जहाँ पर अधिक कीचड़ न हो, द्वीन्द्रियादि जीवों की बहुलता न हो, प्रासुक भूमि हो, रहने योग्य दो तीन बस्तियां हों, गोरस की प्रचुरता हो, बहुत लोग रहते हों, कोई वैद्य हो, औषधियां सरलता से प्राप्त होती हों, धान्य की प्रचुरता हो, राजा सम्यक् प्रकार से प्रजा का पालन करता हो, पाखण्डी साधु कम रहते हों, भिक्षा सुगम हो और स्वाध्याय में किसी भी प्रकार का विघ्न न हो। जहाँ पर कुत्ते अधिक हों वहाँ पर श्रमण को विहार नहीं करना चाहिए।

भाष्य में दीक्षा ग्रहण करने वाले के गुण-दोष पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि कुछ व्यक्ति अपने देशस्वभाव से ही दोषयुक्त होते हैं। आंध्र में उत्पन्न व्यक्ति

क्रूर होता है। महाराष्ट्र में उत्पन्न हुआ व्यक्ति वाचाल होता है और कोशल में उत्पन्न हुआ व्यक्ति स्वभाव से ही दुष्ट होता है। इस प्रकार का न होना बहुत ही कम व्यक्तियों में सम्भव है।

आगे भाष्य में शयनादि के निमित्त सामग्री एकत्रित करने और पुनः लौटाने की विधि बतलाई है। आहार की मर्यादा पर प्रकाश डालते हुए कहा है–आठ कौर खाने वाला श्रमण अल्पाहारी, ग्यारह, सोलह, चौबीस, इकत्तीस और बत्तीस ग्रास ग्रहण करने वाला श्रमण क्रमशः अपार्धाहारी, अर्धाहारी, प्राप्तावमौदर्य और प्रमाणाहारी है।

नवम उद्देशक में शय्यातर के ज्ञातिक, स्वजन, मित्र प्रभृति आगन्तुक व्यक्तियों से सम्बन्धित आहार को लेने और न लेने के सम्बन्ध में विचार कर श्रमणों की विविध प्रतिमाओं पर प्रकाश डाला है।

दशम उद्देशक में यवमध्यप्रतिमा और वज्रमध्यप्रतिमा पर विशेष रूप से चिन्तन किया है। साथ ही पांच प्रकार के व्यवहार, बालदीक्षा की विधि, दस प्रकार की वैयावृत्य आदि विषयों की व्याख्या की गई है।

आर्य रक्षित, आर्य कालक, राजा सातवाहन, प्रद्योत, मुरुण्ड, चाणक्य, चिलातपुत्र, अवन्ति सुकुमाल, रोहिणेय, आर्य समुद्र, आर्य मंगु आदि की कथाएँ आई हैं। प्रस्तुत भाष्य अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

व्यवहार पर एक चूर्णि भी लिखी गई थी। चूर्णि के पश्चात् व्यवहार पर आचार्य मलयगिरि ने वृत्ति लिखी। वृत्ति में आचार्य मलयगिरि का गम्भीर पाण्डित्य स्पष्ट रूप से झलकता है। विषय की गहनता, भाषा की प्रांजलता, शैली का लालित्य और विश्लेषण की स्पष्टता प्रेक्षणीय है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्राक्कथन में रूप में पीठिका है। जिसमें कल्प, व्यवहार, दोष, प्रायश्चित्त प्रभृति विषयों पर चिन्तन किया है। वृत्तिकार ने प्रारम्भ में अर्हत् अरिष्टनेमि को, अपने सद्गुरुवर्य तथा व्यवहारसूत्र के चूर्णिकार आदि को भक्तिभावना से विभोर होकर नमन किया है।

वृत्तिकार ने बृहत्कल्प और व्यवहार इन दोनों आगमों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा कि कल्पाध्ययन में प्रायश्चित्त का निरूपण है किन्तु उसमें प्रायश्चित्त देने की विधि नहीं है, जबकि व्यवहार में प्रायश्चित्त देने की और आलोचना करने की ये दोनों प्रकार की विधियां हैं। यह बृहत्कल्प से व्यवहार की विशेषता है। व्यवहार, व्यवहारी और व्यवहर्त्तव्य तीनों का विश्लेषण करते हुए लिखा है–व्यवहारी कर्तारूप है, व्यवहार कारणरूप है और व्यवहर्तव्य कार्यरूप

है। कारणरूपी व्यवहार आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत रूप से पांच प्रकार का है। चूर्णिकार ने पांचों प्रकार के व्यवहार को करण कहा है। भाष्यकार ने सूत्र, अर्थ, जीतकल्प, मार्ग, न्याय, एषितव्य, आचरित और व्यवहार इनको एकार्थक माना है।

जो स्वयं व्यवहार के मर्म को जानता हो, अन्य व्यक्तियों को व्यवहार के स्वरूप को समझाने की क्षमता रखता हो वह गीतार्थ है। जो गीतार्थ है उसके लिए व्यवहार का उपयोग है। प्रायश्चित्त प्रदाता और प्रायश्चित्त संग्रहण करने वाला दोनों गीतार्थ होने चाहिए। प्रायश्चित्त के प्रतिसेवना, संयोजना, आरोपणा और परिकुंचना, ये चार अर्थ हैं। प्रतिसेवना रूप प्रायश्चित्त के दस भेद हैं।

(१) आलोचना, (२) प्रतिक्रमणा, (३) तदुभय, (४) विवेक, (५) उत्सर्ग, (६) तप, (७) छेद, (८) मूल, (९) अनवस्थाप्य और (१०) पाराँचिक।

इन दसों प्रायश्चित्तों के सम्बन्ध में विशेष रूप से विवेचन किया गया है। यदि हम इन प्रायश्चित्त के प्रकारों की तुलना विनयपिटक[१] में आयी हुई प्रायश्चित्तविधि के साथ करें तो आश्चर्यजनक समानता मिलेगी। प्रायश्चित्त प्रदान करने वाला अधिकारी या आचार्य बहुश्रुत व गम्भीर हो, यह आवश्यक है। प्रत्येक के सामने आलोचना का निषेध किया गया है। आलोचना और प्रायश्चित्त दोनों ही योग्य व्यक्ति के समक्ष होने चाहिए, जिससे कि वह गोपनीय रह सके।

बौद्धपरम्परा में साधुसमुदाय के सामने प्रायश्चित्त ग्रहण का विधान है। विनयपिटक में लिखा है–प्रत्येक महीने की कृष्ण चतुर्दशी और पूर्णमासी को सभी भिक्षु उपोसथागार में एकत्रित हों। तथागत बुद्ध ने अपना उत्तराधिकारी संघ को बताया है। अतः किसी प्राज्ञ भिक्षु को सभा के प्रमुख पद पर नियुक्त कर पातिमोक्ख का वाचन किया जाता है और प्रत्येक प्रकरण के उपसंहार में यह जिज्ञासा व्यक्त की जाती है कि उपस्थित सभी भिक्षु उक्त बातों में शुद्ध हैं? यदि कोई भिक्षु तत्सम्बन्धी अपने दोष की आलोचना करना चाहता है तो संघ उस पर चिन्तन करता है और उसकी शुद्धि करवाता है। द्वितीय और तृतीय बार भी उसी प्रश्न को दुहराया जाता है। सभी की स्वीकृति होने पर एक-एक प्रकरण आगे पढ़े जाते हैं। इसी तरह भिक्षुणियाँ (भिक्खुनी) पातिमोक्ख का वाचन करती हैं। यह सत्य है कि दोनों ही परम्पराओं की प्रायश्चित्त विधियां पृथक्-पृथक् हैं। पर दोनों में मनोवैज्ञानिकता है। दोनों ही परम्पराओं में प्रायश्चित्त करने वाले साधक के हृदय की पवित्रता, विचारों की सरलता अपेक्षित मानी है।

---

१. विनयपिटक निदान

प्रथम उद्देशक में प्रतिसेवना के मूलप्रतिसेवना और उत्तरप्रतिसेवना ये दो प्रकार बताये हैं। मूलगुण-अतिचारप्रतिसेवना प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह रूप पांच प्रकार की है। उत्तरगुणातिचार प्रतिसेवना दस प्रकार की है। उत्तरगुण अनागत, अतिक्रान्त, कोटिसहित, नियन्त्रित, साकार, अनाकार, परिमाणकृत, निरवशेष, सांकेतिक और अद्धा प्रत्याख्यान के रूप में है। अपर शब्दों में उत्तरगुणों के पिण्डविशुद्धि, पांच समिति, बाह्य तप, आभ्यन्तर तप, भिक्षुप्रतिमा और अभिग्रह इस तरह दस प्रकार हैं। मूलगुणातिचार-प्रतिसेवना और उत्तरगुणातिचारप्रतिसेवना इनके भी दर्प और कल्प्य ये दो प्रकार हैं। विना कारण प्रतिसेवना दर्पिका है और कारणयुक्त प्रतिसेवना कल्पिका है। वृत्तिकार ने विषय को स्पष्ट करने के लिए स्थान-स्थान पर विवेचन प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत वृत्ति का ग्रन्थमान ३४६२५ श्लोक प्रमाण है।

वृत्ति के पश्चात् जनभाषा में सरल और सुबोध शैली में आगमों के शब्दार्थ करने वाली संक्षिप्त टीकाएँ लिखी गई हैं, जिनकी भाषा प्राचीन गुजराती-राजस्थानी मिश्रित है। यह बालावबोध व टब्बा के नाम से विश्रुत हैं। स्थानकवासी परम्परा के धर्मसिंह मुनि ने व्यवहारसूत्र पर भी टब्बा लिखा है, पर अभी तक वह अप्रकाशित ही है। आचार्य अमोलकऋषिजी महाराज द्वारा कृत हिन्दी अनुवाद सहित व्यवहारसूत्र प्रकाशित हुआ है। जीवराज घेलाभाई दोशी ने गुजराती में अनुवाद भी प्रकाशित किया है। शुब्रिंग लिपजिंग ने जर्मन टिप्पणी के साथ सन् १९१८ में लिखा जिसको जैन साहित्य समिति पूना से १९२३ में प्रकाशित किया गया है।

पूज्य धासीलालजी म. ने छेदसूत्रों का प्रकाशन केवल संस्कृत टीका के साथ करवाया है।

आगम अनुयोग प्रकाशन साण्डेराव से सन् १९८० में व्यवहारसूत्र प्रकाशित हुआ। जिसका सम्पादन आगममर्मज्ञ मुनि श्री कन्हैयालालजी म.''कमल'' ने किया।

मुनि श्री कन्हैयालालजी म.''कमल'' ने पहले आयार-दसा, कप्पसुत्तं और ववहारसुत्तं इन तीनों छेदसूत्रों का सम्पादन और प्रकाशन किया था। उसी पर और अधिक विस्तार से प्रस्तुत तीन आगमों का प्रकाशन हुआ है।

●●

निशीथसूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन

आगम का अर्थ

भारतीय साहित्य में जैन आगम साहित्य का अपना विशिष्ट स्थान है। आगम शब्द 'आ' उपसर्ग एवं गम् धातु से निर्मित हुआ है। 'आ' का अर्थ पूर्ण और गम् का अर्थ गति या प्राप्ति है। आचारांगसूत्र[1] में आगम शब्द जानने के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। भगवती[2] अनुयोगद्वार[3] और स्थानांग[4] में आगम शब्द शास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मूर्धन्य महामनीषियों ने आगम शब्द की विविध परिभाषाएँ लिखी हैं। उन सभी परिभाषाओं को यहां पर उद्धृत करना सम्भव नहीं है। स्याद्वादमञ्जरी[5] की टीका में आगम की परिभाषा इस प्रकार की गई है–'आप्तवचन आगम है। उपचार से आप्तवचन-समुत्पन्न अर्थज्ञान भी आगम है।' आचार्य मलयगिरि[6] ने लिखा है–'जिससे पदार्थों का परिपूर्णता के साथ मर्यादित ज्ञान हो वह आगम है।' रत्नाकरावतारिका[7] वृत्ति में आगम की परिभाषा यह है–'जिससे पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो वह आगम है।'[8] जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने आगम की परिभाषा देते हुए लिखा है जिससे सही शिक्षा प्राप्त होती है, वह शास्त्र आगम या श्रुतज्ञान कहलाता है।

---

१. (क) "आगमेत्ता आणवेज्जा" –आचारांगसूत्र १।५।४
(ख) "लाघवं आगममाणे" –आचारांगसूत्र १।६।३

२. भगवतीसूत्र ५।३।१९२

३. अनुयोगद्वारसूत्र ४२

४. स्थानांगसूत्र ३३८

५. "आप्रवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः, उपचारादाप्तवचनं च ।"
–स्याद्वादमञ्जरी टीका श्लोक ३८

६. आ–अभिविधिना सकलश्रुतविषयव्याप्तिरूपेण, मर्यादया वा यथावस्थितप्ररूपणारूपया गम्यन्ते–परिच्छिद्यन्ते अर्थाः येन सः आगमः । –आवश्यक (वृत्ति) मलयगिरि

७. आगम्यन्ते मर्यादयाऽवबुद्ध्यन्तेऽर्थाः अनेनेत्यागमः । –रत्नाकरावतारिकावृत्ति

८. सासिज्जइ जेण तयं सत्थं तं वा विवेसियं नाणं।
आगम एव य सत्थं आगम सत्थं तु सुयनाणं ॥ –विशेषावश्यकभाष्य गा. ५५९

आगम साहित्य सर्वज्ञ-सर्वदर्शी महापुरुषों के विचारों का नवनीत है। यह आगमसाहित्य अक्षरदेह से जितना विशाल और विराट् है उससे भी अधिक अर्थगरिमा से मण्डित है। उसमें जहाँ दार्शनिक चिन्तन का प्राधान्य है, द्रव्यानुयोग का गम्भीर विश्लेषण है वहाँ उसमें श्रमणों और श्रावकों के आचार-विचार, व्रत-संयम, त्याग-तपस्या, उपवास, प्रायश्चित्त आदि का भी विस्तार से निरूपण किया गया है। धर्म और दर्शन के गुरु-गम्भीर रहस्यों को स्पष्ट करने हेतु कथाओं का भी समुचित उपयोग हुआ है। इनके अतिरिक्त आध्यात्मिक जीवन के जीते-जागते प्रतीक श्रमण भगवान् महावीर प्रभृति तीर्थंकरों के जन्म, तपस्या, उपदेश और विहारचर्या, शिष्यपरम्परायें, आर्य और अनार्य क्षेत्र की सीमाएँ, तात्कालिक राजा, राजकुमार और मत-मतान्तरों का विशेष निरूपण है। आगम-साहित्य ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अभिनव चेतना का संचार किया। जीवन का सजीव और यथार्थ दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहा कि जीवन का लक्ष्य विषयवासना के दल-दल में फँसने का नहीं, अपितु त्याग, वैराग्य और संयम से जीवन को चमकाना है। यही कारण है–जैन आगमसाहित्य में सर्वत्र साधक को संयम-साधना तपः-आराधना और मनोमन्थन की पावन प्रेरणा प्रदान की गई है।

आचार्य देववाचक ने नन्दीसूत्र में आगमसाहित्य को दो भागों में विभक्त किया है[1]–अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। छेदसूत्र अंगबाह्य आगम हैं। छेदसूत्रों में जैन श्रमण और श्रमणियों के जीवन से सम्बन्धित आचार विषयक नियमोपनियम का विशद विश्लेषण है। यह विश्लेषण स्वयं भ. महावीर के द्वारा निरूपित है जो बहुत ही अद्‌भुत और अनूठा है।

उसके पश्चात् उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी उसको विकसित किया है। छेदसूत्रों में नियम भंग हो जाने पर श्रमण-श्रमणियों द्वारा विविध प्रायश्चित्त विधियों का विश्लेषण हुआ है। श्रमणजीवन की पवित्रता–निर्मलता बनाये रखने हेतु ही छेदसूत्रों का निर्माण हुआ। यही कारण है श्रमणजीवन के सम्यक् संचालन के लिए छेदसूत्रों का अध्ययन आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य माना गया है।

छेदसूत्र : अर्थ और स्वरूप

सर्वप्रथम छेदसूत्र शब्द का प्रयोग हमें आवश्यकनिर्युक्ति में मिलता है।[2] इसके पूर्व किसी भी प्राचीन साहित्य में 'छेदसूत्र' यह नाम नहीं आया है। उसके पश्चात्

---

१. नन्दीसूत्र ७२

२. जं च महाकप्प सुयं, जणि असेसाणि छेअसुत्ताणि ।
चरणकरणाणुओगो त्ति कालियत्थे उवगयाणि । –आवश्यकनिर्युक्ति ७७७

आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक[1] भाष्य में तथा संघदासगणि ने निशीथभाष्य[2] में छेदसूत्र का उल्लेख किया है। छेदसूत्रों का पृथक् वर्गीकरण क्यों किया गया ? क्यों निशीथ आदि को छेदसूत्र के अन्तर्गत रखा गया ? इसका स्पष्ट समाधान वहाँ पर नहीं किया गया है। यह स्पष्ट है कि हम जिन आगमों को छेदसूत्र की संज्ञा प्रदान करते हैं, वे आगम मूलतः प्रायश्चित्त सूत्र हैं। व्यवहार, आलोचना, शोधि और प्रायश्चित्त ये चार शब्द व्यवहारभाष्य[3] में पर्यायवाची माने गये हैं। प्रस्तुत आधार से छेदसूत्रों को व्यवहारसूत्र, आलोचनासूत्र, शोधिसूत्र और प्रायश्चित्तसूत्र कह सकते हैं। छेदसूत्रों के लिए 'पदविभाग', 'समाचारी' शब्द का प्रयोग आचार्य मलयगिरि ने आवश्यकनिर्युक्ति[4] की वृत्ति में किया है। पदविभाग और छेद ये दोनों शब्द समान अर्थ को व्यक्त करते हैं। सम्भव है इस दृष्टि से छेदसूत्र यह नाम रखा गया हो। छेदसूत्रों में एक सूत्र का दूसरे सूत्र से सम्बन्ध नहीं है। छेदसूत्र के सभी सूत्र स्वतन्त्र हैं। उन सूत्रों की व्याख्या भी छेददृष्टि से या विभागदृष्टि से की जाती है।

हम पूर्व पंक्तियों में लिख चुके हैं छेद-सूत्रों को प्रायश्चित्तसूत्र कहा गया है। स्थानांग में श्रमणों के लिए पांच चारित्रों का उल्लेख है–१. सामायिक, २. छेदोपस्थापनीय, ३. परिहारविशुद्धि, ४. सूक्ष्मसंपराय, ५. यथाख्यात।[5] इनमें से वर्तमान में अन्तिम तीन चारित्र विच्छिन्न हो गये हैं। सामायिक चारित्र स्वल्पकालीन होता है, छेदोपस्थापनिक चारित्र ही जीवनपर्यन्त रहता है। प्रायश्चित्त का सम्बन्ध भी इसी चारित्र से है। सम्भवतः इसी चारित्र को लक्ष्य में रखकर प्रायश्चित्तसूत्रों को छेदसूत्र की संज्ञा दी गई हो।

दशाश्रुतस्कन्ध, व्यवहार और बृहत्कल्प ये सूत्र नौवें प्रत्याख्यान पूर्व से उद्धृत किये गये हैं।[6] उससे छिन्न अर्थात् पृथक् करने से उन्हें छेदसूत्र की संज्ञा दी गई हो, यह भी सम्भव है।[7]

---

१. जं च महाकप्प सुयं, जाणि असेसाणि छेअसुत्ताणि ।
चरणकरणाणुओगो त्ति कालियत्थे उवगयाणि ॥ –विशेषावश्यकभाष्य २२९५

२. छेदसुत्तणिसीहादी अत्थो य गतो य छेदसुत्तादी ।
संतनिमित्तोसहिपाहुडे, य गाहेंति अण्णत्थ ॥ –निशीथभाष्य ५९४७

३. व्यवहारभाष्य २।९०

४. पदविभाग, समाचारी छेदसूत्राणि । –आवश्यकनिर्युक्ति ६६५ मलयगिरि वृत्ति

५. (क) स्थानांगसूत्र ५, उद्देशक २, सूत्र ४२८
(ख) विशेषावश्यकभाष्य गा. १२६०-७०

६. कतरं सुत्तं? दसाउक्कप्पो ववहारो य । कतरातो उद्धृतं? उच्यते पच्चक्खाणपुव्वाओ ।
–दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि, पत्र २

७. निशीथ. १९।७७

निशीथसूत्र के उन्नीसवें उद्देशक के सत्रहवें सूत्र में छेदसूत्र को 'उत्तमश्रुत' कहा गया है। संघदासगणि ने निशीथभाष्य में छेदसूत्र को उत्तमश्रुत माना है।[1] जिनदासगणि महत्तर ने निशीथचूर्णि में यह प्रश्न उपस्थित किया है और पुनः उन्होंने ही प्रश्न का समाधान करते हुए लिखा है कि छेदसूत्र में प्रायश्चित्तविधि का निरूपण होने से वह चारित्र की विशुद्धि करता है, तदर्थ ही छेदसूत्रों को उत्तमश्रुत कहा गया है।[2]

उत्तमश्रुत शब्द पर चिन्तन करते हुए एक जिज्ञासा अन्तर्मानस में उद्बुद्ध होती है कि छेदसूत्र कहीं 'छेक' सूत्र तो नहीं है? छेकश्रुत का अर्थ है कल्याणश्रुत और उत्तमश्रुत। दशाश्रुतस्कन्ध की चूर्णि में दशाश्रुतस्कन्ध को 'छेक' सूत्र का प्रमुख ग्रन्थ माना है।[3] दशाश्रुतस्कन्ध प्रायश्चित्तसूत्र नहीं है। वह तो आचारसूत्र है। इसीलिए दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि में दशाश्रुतस्कन्ध को चरणकरणानुयोग में लिया गया है। यदि छेदसूत्र को छेकसूत्र मान भी लिया जाय तो किसी प्रकार की आपत्ति नहीं हो सकती। आचार्य शय्यंभव के दशवैकालिकसूत्र में–**जं छेयं तं समायरे**[4] पद प्राप्त है। यहाँ पर छेय शब्द से छेक होने की पुष्टि होती है।[5]

षट्खण्डागम,[6] सर्वार्थसिद्धि,[7] तत्त्वार्थराजवार्तिक,[8] गोम्मटसार जीवकाण्ड[9] प्रभृति दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में आगमसाहित्य के दो विभाग किया गये हैं– अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। पर इनमें छेद इस प्रकार का विभाग प्राप्त नहीं है। पर बाद में ग्रन्थों में छेदशास्त्र और छेदपिण्ड ये नाम प्राप्त होते हैं। सम्भव है दिगम्बर परम्परा में भी प्रायश्चित्त के अर्थ में ही छेद शब्द व्यवहृत रहा हो। छेदशास्त्र और छेदपिण्ड दोनों ही ग्रन्थों में प्रायश्चित्त का निरूपण है। छेदपिण्ड में

---

१. छेयसुयमुत्तमसुयं । –निशीथभाष्य, ६१८४

२. छेदसुयं कम्हा उत्तमसुतं? भण्णति–जम्हा एत्थं सपायच्छित्तो विधि भण्णति, जम्हा येतेणच्चरणविसुद्धि करेति, तम्हा तं उत्तमसुतं । –निशीथभाष्य, ६१८४ की चूर्णि ।

३. इमं पुणच्छेयसुत्तप्पमुहभूतं । –दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि, पत्र २

४. दशवैकालिक ४।११

५. निसीहज्झयणं प्रस्तावना । –आचार्य तुलसी

६. षट्खण्डागम, भाग १. पृ. ९६

७. सर्वार्थसिद्धिः पूज्यपाद, १-२०

८. तत्त्वार्थराजवार्तिकः अकलंक, १-२०

९. गोम्मटसार जीवकाण्ड : नेमीचन्द्र, पृ. १३४

प्रायश्चित्त के आठ पर्यायवाची नामों का उल्लेख है[१]–(१) प्रायश्चित्त, (२) छेद, (३) मलहरण, (४) पापनाशन, (५) बोधि, (६) पुण्य, (७) पवित्र, (८) पावन। छेदशास्त्र में भी प्रायश्चित्त और छेद इन दोनों शब्दों को पर्यायवाची स्वीकार किया है।[२] सारांश यह है कि छेदसूत्र प्रायश्चित्तसूत्र हैं।

समाचारीशतक में आचार्य समयसुन्दरगणि ने छेदसूत्रों की संख्या छह बतलाई है[३]–(१) दशाश्रुतस्कन्ध, (२) व्यवहार, (३) बृहत्कल्प, (४) निशीथ, (५) महानिशीथ, (६) जीतकल्प। इनमें से पाँच छेद सूत्रों के नाम का उल्लेख आचार्य देववाचक ने नन्दीसूत्र में किया है।[४] विज्ञों का मन्तव्य है कि जीतकल्प जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की कृति है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का समय वि. सं. ६५० के लगभग है। जिसका निर्माण नन्दीसूत्र की रचना के पश्चात् हुआ है। अतः उसे आगम की कोटि में स्थान नहीं दिया जा सकता। महानिशीथसूत्र को दीमक ने खाकर नष्ट कर दिया था। अतः वर्तमान में उसकी मूल प्रति अनुपलब्ध है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने पुनः उसका उद्धार किया था।[५] अतः वर्तमान में उपलब्ध महानिशीथ भी आगम की कोटि में नहीं आता। इस प्रकार मौलिक छेदसूत्र चार हैं–(१) दशाश्रुतस्कन्ध, (२) व्यवहार, (३) बृहत्कल्प, (४) निशीथ।

छेदसूत्रों में निशीथ का प्रमुख स्थान है। निशीथ का अर्थ अप्रकाश्य है।[६] यह सूत्र अपवादबहुल है। अतः हर किसी व्यक्ति को नहीं पढ़ाया जाता था। जिनदासगणि महत्तर ने तीन प्रकार के पाठक बताये हैं–(१) अपरिणामक, (२) परिणामक, (३) अतिपरिणामक। अपरिणामक का अर्थ है जिसकी बुद्धि अपरिपक्व है। परिणामक का अर्थ है जिसकी बुद्धि परिपक्व है। अतिपरिणामक का अर्थ है जिसकी बुद्धि कुतर्कपूर्ण है। अपरिणामक और अतिपरिणामक ये दोनों पाठक निशीथ पढ़ने के अनधिकारी है।[७] जो पाठक आजीवन रहस्य को

---

१. पायच्छित्तं छेदो मलहरणं पावणासणं सोही । पुण्ण पवित्तं पावणामिदि पायछित्तनामाइ।
–छेदपिण्ड, गाथा ३

२. छेदशास्त्र गाथा २

३. समाचारी शतक : आगम स्थापनाधिकार ।

४. कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा–दसाओ, कप्पो, ववहारो, निसीहं, महानिसीहं ।
–नन्दीसूत्र ७०

५. महानिशीथ अध्ययन ३

६. जं होति अप्पगासं तं तु णिसीहं ति लोग संसिद्धं ।
जं अप्पगासधम्मं अण्णे पि तयं निसीधं ति ॥ –निशीथभाष्य, श्लोक ६४

७. पुरिसो तिविहो परिणागमो, अपरिणामगो, अतिपरिणामगो, तो एत्थ अपरिणामग अतिपरिणामगाणं पडिसेहो ॥ –निशीथचूर्णि, पृ. १६५

धारण कर सकता है वही प्रबुद्ध पाठक निशीथ पढ़ने का अधिकारी है।[1] यहां पर जो रहस्य शब्द है वह इसकी गोपनीयता को प्रकट करता है। निशीथ का अध्ययन वही साधु कर सकता है जो तीन वर्ष का दीक्षित हो और गाम्भीर्य आदि गुणों से युक्त हो। प्रौढ़ता की दृष्टि से बगल में बाल वाला सोलह वर्ष का साधु ही निशीथ का वाचक हो सकता है।[2] निशीथ का ज्ञाता हुए बिना कोई भी श्रमण अपने सम्बन्धियों के यहां भिक्षा के लिए नहीं जा सकता[3] और न वह उपाध्याय आदि पद के योग्य ही माना जा सकता है।[4] श्रमण-मण्डली का अगुआ होने में और स्वतन्त्र विहार करने में भी निशीथ का ज्ञान आवश्यक है।[5] क्योंकि निशीथ का ज्ञाता हुए बिना कोई साधु प्रायश्चित्त देने का अधिकारी नहीं हो सकता। इसीलिए व्यवहारसूत्र में निशीथ को एक मानदण्ड के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

छेदसूत्र दो प्रकार के हैं। कुछ छेदसूत्र अंग के अन्तर्गत आते हैं और कुछ छेदसूत्र अंगबाह्य के अन्तर्गत आते हैं। निशीथसूत्र अंग के अन्तर्गत है और अन्य छेदसूत्र अंगबाह्य के अन्तर्गत है। आचार्य देववाचक ने यद्यपि आचारांग और निशीथ के पारस्परिक सम्बन्ध का उल्लेख नहीं किया है। वहां पर तो केवल आचारांग के पच्चीस अध्ययनों का ही उल्लेख है।[6] समवायांगसूत्र में आचारांग के नौ अध्ययन और आचारचूला के सोलह अध्ययन इस प्रकार आचारांग के पच्चीस अध्ययनों का वर्णन किया है।[7] नन्दीसूत्र में निशीथ का एक स्वतन्त्र कालिकसूत्र के रूप में वर्णन किया गया है। किन्तु आचारांग के पच्चीस अध्ययनों में उसकी गणना नहीं की गई हैं।[8] सम्भव है आचार्य देववाचक के सामने निशीथ

---

१. निशीथभाष्य ६७०२-३

२. (क) निशीथचूर्णि, गाथा ६१६५
   (ख) व्यवहारभाष्य, उद्देशक ७, गा. २०२-३
   (ग) व्यवहारसूत्र, उद्देशक १०, गाथा २०-२१

३. व्यवहारसूत्र, उद्देशक ६, सू. २, ३

४. व्यवहारसूत्र, उद्देशक ३, सू. ३.

५. व्यवहारसूत्र, उद्देशक ३, सू. १

६. पणवीसं अज्झयणा । —नन्दी सूत्र ८०

७. आयारस्स णं भगवओ सचूलियायस्स पणवीसं अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—सत्थपरिण्णा लोगविजओ सीओसणीअ सम्मत्तं । आवंति धुय विमोह उवहाणसुयं महपरिण्णा पिंडेसण सिज्जिरिया भासज्झयणा य वत्थ पाएसा । उग्गहपडिमा सत्तिक्कसत्तया भावण विमुत्ति ॥
   —समवायांग, समवाय २५

८. नन्दीसूत्र ७७

आचारांग की ही एक चूला है, इस प्रकार की धारणा न रही हो। समवायांगसूत्र में चूलिका के साथ आचारांगसूत्र के ८५ उद्देशनकाल बतलाये हैं।[1] नवाङ्गी टीकाकार आचार्य अभयदेव ने चतुर्थ आचारचूला तक की प्रस्तुत संख्यापूर्ति का संकेत किया है।[2] वह इस प्रकार है–

आचारांग	उद्देशन-काल	आचार-चूला	उद्देशन-काल
१	७	१	११
२	६	२	३
३	४	३	३
४	४	४	२
५	६	५	२
६	५	६	२
७	८	७	२
८	४	८	१
९	७	९	१
		१०	१
		११	१
		१२	१
		१३	१
		१४	१
		१५	१
		१६	१

प्रस्तुत अवतरण से यह स्पष्ट है आचारांग और निशीथ में किसी भी प्रकार का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। समवायांग के ५७ वें अध्ययन में आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग के ५७ अध्ययन प्रतिपादित किये गये हैं।[3] वहां पर भी निशीथ की परिगणना नहीं की गई है।

---

१. आयारस्स णं भगवओ सचूलियागस्स पंचासीइं उद्देसणकाला पण्णत्ता।
–समवायांग, समवाय ८५ वृत्ति

२. तिण्हगणिपिडगाणं आयारचूलियावज्जाणं सत्तावन अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा–आयारे सूयगडे ठाणे।
–समवायांग, समवाय ५७

३. हवइ सपंचचूलो।
–आचारांगनिर्युक्ति ११

आचारांगनिर्युक्ति से सर्वप्रथम हमें यह जानकारी प्राप्त होती है कि आचारांग का निशीथ के साथ सम्बन्ध है। आचारांग और पांच चूलाओं की संयुक्त निर्युक्ति बनाकर आचारांग और निशीथ में परस्पर सम्बन्ध स्थापित किया गया है। निर्युक्तिकार ने आचारांग की पाँचवीं चूला के रूप में निशीथ की स्थापना कर आचारांग और निशीथ दोनों अंग हैं यह सिद्ध किया है।

संक्षेप में सारांश यह है कि निशीथ की रचना आचारांग की पांचवीं चूला के रूप में स्थापना नन्दीसूत्र के पश्चात् हुई है और निर्युक्ति की रचना के पूर्व हुई है।

पण्डित दलसुखभाई मालवणिया ने 'निशीथ : एक अध्ययन' ग्रन्थ में प्रस्तुत प्रश्न पर विस्तार से ऊहा-पोह किया है और उन्होंने यह विचार प्रस्तुत किया है कि 'निशीथ' किसी समय आचारांग के अन्तर्गत रहा होगा। किन्तु एक समय ऐसा भी आया कि उपलब्ध आचारांगसूत्र से निशीथ को पृथक् कर दिया गया। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि निशीथ आचारांग की अन्तिम चूला के रूप में था, मूल में नहीं। सम्भव है, कभी चूला के रूप में आचारांग में जोड़ा गया हो और विशेष कारण उपस्थित होने पर; जो निशीथ मौलिक रूप में आचारांग का अंश नहीं था, वह एक परिशिष्ट रह गया हो जो छेद अंगबाह्य था, उसमें निशीथ को सम्मिलित कर दिया गया। अंगबाह्य में निशीथ को सम्मिलित करने से निशीथ का महत्त्व कम नहीं हुआ। यहां पर भी यह स्मरण रखना होगा कि निशीथसूत्र को आचारांग का अंश श्वेताम्बर परम्परा ही मानती है, दिगम्बर परम्परा नहीं। दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से निशीथ अंगबाह्य आगम ग्रन्थ ही है।[1] दिगम्बर परम्परा ने चौदह ग्रन्थों को अंगबाह्य माना है। उनमें छह तो आवश्यकसूत्र के अध्ययन ही हैं। इससे भी यह स्पष्ट है कि निशीथ कितना प्राचीन आगम है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्परा के भेद होने के पूर्व निशीथसूत्र था यह स्वतः सिद्ध होता है।

आचारांगनिर्युक्ति में निम्न गाथा आई है–

णवबंभचेरमइओ अट्ठारसपयसहस्सिओ वेओ ।
हवइ य सपंचचूलो बहु-बहुतरओ पयग्गेण ॥[2]

प्रस्तुत गाथा से यह स्पष्ट होता है कि पहले आचारांग के प्रथम स्कन्ध के नौ ब्रह्मचर्य अध्ययन ही थे। उसके पश्चात् उसमें वृद्धि हुई और वह प्रथम बहु हुआ

---

१. (क) षट्खण्डागम भाग १ पृ. ९६ ।
(ख) कषायपाहुड भाग १, पृ. २५।१२१

२. आचारांगनिर्युक्ति गाथा ११

और तदनन्तर बहुतर। आचारांग के आधार पर ही प्रथम चार चूलाएँ बनीं और उन चूलाओं को आचारांग के साथ जोड़ दिया गया। समवायांग और नन्दी इन दोनों आगमों में आचारांग का जो परिचय दिया गया है उसमें पच्चीस अध्ययन कहे गये हैं पर निशीथ को उसके साथ नहीं जोड़ा गया है। जब निशीथ को आचारांग के साथ जोड़ा गया तो वह बहु से बहुतर हो गया। नन्दी में कथित आगमसूची के निर्माण काल और आचारांगनिर्युक्ति की रचना के काल, इन दोनों के बीच के काल में ही निशीथ को आचारांग में जोड़ा गया है।

यह सहज जिज्ञासा उद्भूत हो सकती है-पूर्वगत आचार नामक वस्तु के आधार पर निशीथ का निर्माण या निर्यूढ हुआ, उसका नाम आचारप्रकल्प था। विषयसाम्य होने के कारण उसे आचारांग में जोड़ दिया गया हो। आचारप्रकल्प में प्रायश्चित्त का विधान होने से यह अत्यधिक आवश्यक था कि तीर्थंकर की वाणी के समान ही वह भी प्रमाणभूत माना जाय। इसी दृष्टि से आचारांग की चूला के रूप में उसकी स्थापना की गई हो। आचारांग-निर्युक्ति[1] के आधार से यह स्पष्ट है कि आचारांग की प्रथम चार चूलाएँ तो आचारांग के आधार पर निर्मित हुई हैं, किन्तु पांचवीं चूला निशीथ का निर्माण प्रत्याख्यान नामक 'पूर्व' से हुआ था।[2] निशीथ का एक नाम आचार भी है।

आचारांगनिर्युक्ति में आचारांग की चूलिकाओं के विषय में स्पष्ट रूप से लिखा है कि आचारांग आचारचूलिकाओं के विषय को स्थविरों ने आचार में से ही लेकर शिष्यों के हित के लिए चूलिकाओं में विभक्त किया।

आचारांगनिर्युक्ति गाथा २८७ में 'थेरेहिं' शब्द का प्रयोग हुआ है। स्थविर शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य शीलाङ्क ने लिखा है कि आचारांग को किसने निर्यूढ किया और वे कौन थे? स्थविर थे या चतुर्दशपूर्वधर थे?[3] किन्तु आचारांगचूर्णि में स्थविर शब्द का अर्थ गणधर किया है।[4] निशीथचूर्णि में स्पष्ट

---

१. (क) आयारपकप्पो पुण पच्चक्खाणस्स तइयवत्थूओ ।
आयारनामधिज्जा वीसइमा पाहुडच्छेया ॥ —आचारांगनिर्युक्ति गा. २८९
(ख) व्यवहारभाष्य गा. २००

२. थेरेहिऽणुग्गहट्ठा सीसहिअं होउ पागडत्थं च ।
आयाराओ अत्थो आयारग्गेसु पविभत्तो ॥ —आचारांगनिर्युक्ति गा. २८७

३. स्थविरैः श्रुतवृद्धैश्चतुर्दशपूर्वविद्धि । —आचारांगनिर्युक्ति गा. २८७

४. एयाणि पुण आयाएगाणि आयार चेव निज्जूढाणि ।
केण णिज्जूढाणि ? थेरेहिं थेरा-गणधरा : ॥ —आचारांगचूर्णि पृ. ३३६

रूप से यह उल्लेख है कि निशीथसूत्र के कर्त्ता अर्थ की दृष्टि से तीर्थंकर हैं और सूत्र की दृष्टि से गणधर हैं। निशीथचूर्णि के अनुसार भी निशीथ के कर्त्ता गणधर माने गये हैं। इसका मूल कारण निशीथ को अंगसाहित्य के अन्तर्गत गिनना है। यहां पर स्थविर शब्द के अर्थ को लेकर परस्पर में मतभेद है। आचार्य शीलाङ्क ने स्थविर शब्द का अर्थ चतुर्दशपूर्वी तो किया है किन्तु गणधर नहीं किया। जबकि आचारांगचूर्णि और निशीथचूर्णि में स्थविर का अर्थ गणधर किया है। इसका मूल कारण यह हो सकता है कि निशीथ आचारांग का ही अंश है। आचारांग अंग-आगम है। अंगों के अर्थप्ररूपक तीर्थंकर होते हैं और सूत्ररचयिता गणधर होते हैं। इस दृष्टि से उन्होंने निशीथ को गणधरकृत माना हो।

यहां यह प्रश्न सहज ही समुत्पन्न हो सकता है कि निर्युक्ति तो चूर्णि के पूर्व बनी है। निर्युक्तिकार ने निशीथ को स्थविरकृत और चूर्णिकार ने गणधरकृत लिखा है। उसका प्रमुख कारण यही हो सकता है कि अंगों के रचयिता गणधर होते हैं, इसलिए गणधरकृत लिखा हो।

निशीथ : अर्थ और विषय वस्तु

प्रस्तुत आगम का नाम निशीथ है। आचारांगनिर्युक्ति में 'आयारपकप्प' और 'निसीह' ये दो नाम प्राप्त होते हैं।[1] अन्य कई स्थलों पर ये दो नाम आये हैं। नन्दीसूत्र[2] और पक्खियसुत्त[3] ग्रन्थ में 'निसीह' शब्द का प्रयोग प्रस्तुत आगम के लिए हुआ है। धवला और जयधवला में क्रमशः 'णिसिहिय' और 'णिसीहीय' का प्रयोग हुआ है।[4] अंग-प्रज्ञप्तिचूलिका में 'णिसेहिय' शब्द आया है।[5]

निसीह शब्द का संस्कृत रूप निशीथ है। णिसीहिय और णिसीहीय का संस्कृत अर्थ निषिधक है। वेबर[6] ने निसीह शब्द पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि निसीह शब्द का अर्थ निषेध होना चाहिए। उन्होंने अपने मन्तव्य को सिद्ध करने हेतु

---

१. आचारांगनिर्युक्ति गा. २९१-३४७

२. नन्दीसूत्र, पृ. ४४

३. पक्खियसुत्त, पृ. ६६

४. षट्खण्डागम, भाग १ पृ. ९६. तथा कसायपाहुड, भाग १ पृ. २५,१२१ टिप्पणों के साथ देखें।

५. अंगप्रज्ञप्तिचूलिका गाथा ३४

६. इण्डियन एण्टीक्वेरी, भाग २१ पृ. ९७
This Name (निसीह) is explained strangely enough by Nishitha though the character of the contents would lead us to expect Nishedha. (निषेध)

उत्तराध्ययन में व्यवहृत समाचारी प्रकरण में 'निसीहिया' 'नैषेधिकी' शब्द समुपस्थित किया है और उन शब्दों की परिभाषा देकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि निसीह शब्द का अर्थ 'निशीथ' नहीं 'निषेध' है। दिगम्बर ग्रन्थों में निसीह के स्थान में निसीहिया शब्द का व्यवहार किया गया।[1] गोम्मटसार में भी यही शब्द प्राप्त होता है।[2] गोम्मटसार की टीका में निसीहिया का संस्कृत रूप निषीधिका किया है।[3] आचार्य जिनसेन ने हरिवंशपुराण मे निशीथ के लिए 'निषद्यक' शब्द का व्यवहार किया है।[4] तत्त्वार्थभाष्य में निसीह शब्द का संस्कृत रूप निशीथ माना है। निर्युक्तिकार को यही अर्थ अभिप्रेत है। इस प्रकार श्वेताम्बर साहित्य के अभिमतानुसार निसीह का संस्कृत रूप निशीथ और उसका अर्थ अप्रकाश्य है। दिगम्बर साहित्य की दृष्टि से निसीहिया का संस्कृत रूप निशीधिका है और उसका अर्थ प्रायश्चित्त शास्त्र या प्रमाददोष का निषेध करने वाला शास्त्र है।

शास्त्रदृष्टि से निसीह शब्द पर चिन्तन किया जाय तो निसीह शब्द के संस्कृत रूप निशीथ और निशीध दोनों हो सकते हैं, क्योंकि 'थ' और 'ध' दोनों को प्राकृत भाषा में हकार आदेश होता है। अतः णिसिहिया या णिसीहिया शब्द के संस्कृत निषिधिका और निशीथिका अर्थ की दृष्टि से चिन्तन करें तो निषिध या निषिधिका की अपेक्षा निशीथ या निशीधिका अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है। क्योंकि यह आगम विधिनिषेध का प्रतिपादन करने वाला नहीं अपितु प्रायश्चित्त का प्रतिपादन करने वाला है। इस कथन में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों आचार्य एकमत हैं।[5]

चूर्णि में निशीथ को प्रतिषेधसूत्र या प्रायश्चित्तसूत्र का प्रतिपादक बताया है।[6] निशीथभाष्य में लिखा है कि आयारचूला में उपदिष्ट क्रिया का अतिक्रमण करने

---

१. षट्खण्डागम, प्रथम खण्ड. पृ. ९६

२. गोम्मटसार जीवकाण्ड ३६७

३. निषेधनं प्रमाददोषनिराकरणं निषिद्धिः संज्ञायां 'क' प्रत्यये निषिद्धिका तच्च प्रमाददोषविशुद्ध्यर्थं बहुप्रकारं प्रायश्चित्त वर्णयति। –गोम्मटसार जीवकाण्ड ३६७

४. निषद्यकाख्यमाख्याति प्रायश्चित्तविधिं परम्। –हरिवंशपुराण १०/१३८

५. (क) आयारपकप्पस्स उ इमाइं गोण्णाइं णामधिज्जाइं ।
आयारमाइयाइं पायच्छित्तेणउहीगारो॥ –निशीथभाष्य गाथा २
(ख) णिसिहियं बहुविहपायच्छित्तविहाणवण्णणं कुणइ। –षट्खण्डागम, भा. १ पृ. ९८

६. तत्र प्रतिषेधः चतुर्थचूडात्मके आचारे यत् प्रतिषिद्धं तं सेवंतस्स पच्छित्तं भवति त्ति काउं ।
–निशीथचूर्णि, भा. १, पृ. ३

पर जो प्रायश्चित्त आता है उसका निशीथ में वर्णन है।[1] निशीथसूत्र में अपवादों का बाहुल्य है। इसलिए सभा आदि में इसका वाचन नहीं करना चाहिए। अनधिकारी के सन्मुख उसका प्रकाशन न हो। अतः रात्रि या एकान्त में पठनीय होने से निशीथ का अर्थ संगत होता है। निसिहिया का जो निषेधपरक अर्थ है उसकी संगति भी इस प्रकार हो सकती है कि जो अनधिकारी हैं उनको पढ़ाना निषेध है और जन से आकुल स्थान में भी पढ़ना निषिद्ध है। यह केवल स्वाध्यायभूमि में ही पठनीय है।

हरिवंशपुराण में 'निषद्यक' शब्द आया है। सम्भव है कि यह सूत्र विशेष प्रकार की निषद्या में पढ़ाया जाता होगा। इसलिए इसका नाम निषद्यक रखा गया हो। आलोचना करते समय आलोचक आचार्य के लिए निषद्या की व्यवस्था करता था।[2] सम्भव है प्रस्तुत अध्ययन के समय में भी निषद्या की व्यवस्था की जाती होगी। इसलिए निशीथभाष्य में इसका उल्लेख मिलता है।[3]

निशीथ के आचार, अग्र, प्रकल्प, चूलिका ये पर्याय हैं। प्रायश्चित्तसूत्र का सम्बन्ध चरणकरणानुयोग के साथ है। अतः इसका नाम आचार है। आचारांगसूत्र के पांच अग्र हैं। चार आचारचूलाएँ और निशीथ ये पाँच अग्र हैं इसलिए निशीथ का नाम अग्र है। निशीथ की नौवें पूर्व आचारप्राभृत से रचना की गई है। इसलिए इसका नाम प्रकल्प है। प्रकल्पन का द्वितीय अर्थ छेदन करने वाला भी है। आगम साहित्य में निशीथ का 'आयारपकप्प' यह नाम मिलता है। अग्र और चूला समान अर्थ वाले शब्द हैं।

संक्षेप में सार यह है कि निशीथ का अर्थ रहस्यमय या गोपनीय है। जैसे रहस्यमय विद्या, मन्त्र, तन्त्र, योग आदि अनधिकारी या अपरिपक्व बुद्धि वाले व्यक्तियों को नहीं बताते। उनसे छिपाकर गोप्य रखा जाता है। वैसे ही निशीथसूत्र भी गोप्य है। वह भी हर किसी के समक्ष उद्घाटित नहीं किया जा सकता है।

---

१. आयारे चउसु य, चूलियासु उवएसवि तहकारिस्स।
पाच्छित्त मिहज्झयणे भणियं अण्णेसु य पदेसु ॥ –निशीथभाष्य ७१

२. आयारे चउसु य, चूलियासु उवएसवितहकारिस्स ।
पाच्छित्त मिहज्झयणे भणियं अण्णेसु य पदेसु ॥ –निशीथभाष्य ६३८९

३. सुत्तत्थतदुभयाणं गहणं बहुमाणविणयमच्छेरं।
उक्कुड-णिसेज्ज-अंजलि-गहितागहियम्मि य पणामो ॥ –निशीथभाष्य सूत्र ६६७३

निशीथ का स्थान

चार अनुयोगों में चरणकरणानुयोग का गौरवपूर्ण स्थान है। चरणानुयोग का अर्थ है आचार सम्बन्धी नियमावली, मर्यादा प्रभृति की व्याख्या। सभी छेदसूत्रों के विषय का समावेश चरणकरणानुयोग में किया जा सकता है।[1] श्रमण भगवान महावीर प्रभु सर्वज्ञ सर्वदर्शी होने के कारण मानव मन की कमजोरियों को अच्छी तरह से जानते थे। वे अपने श्रमणसंघ को उन कमजोरियों से बचाकर रखना चाहते थे, इसलिए उन्होंने श्रमणसंघ की सुदृढ़ आचार संहिता पर बल दिया। कभी ज्ञात अवस्था में और कभी अज्ञातावस्था में दोष लग जाता है। स्वीकृत व्रत भंग हो जाता है। व्रत भंग होने पर या दोष का सेवन होने पर उसकी शुद्धि हेतु प्रायश्चित्त संहिता का निर्माण किया। छेदसूत्रों में उन घटनाओं का निषेध किया है, जो संयमी जीवन को धूमिल बनाने वाली हैं तथा कुछ प्रायश्चित्त तात्कालिक घटनाओं पर भी आधारित हैं। पर हम गहराई से छेदसूत्रों का अध्ययन करते हैं तो लगता है कि वे सारे निषेध अहिंसा और अपरिग्रह को केन्द्र बनाकर समुपस्थित किये गये हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से पर्यवेक्षण करने पर यह भी सहज ज्ञात होता है कि भारतवर्ष में उस समय जो भिक्षु संघ थे उनमें इस प्रकार की प्रवृत्तियां प्रचलित रही होंगी। वे प्रवृत्तियां श्रमणसंघ के श्रमण और श्रमणियां देखादेखी न अपना लेवें इस दृष्टि से श्रमण-श्रमणियों को निषेध किया और कदाचित् अपना लें तो उनके प्रायश्चित्त का भी विधान किया। इस प्रकार विविध दृष्टियों से निषेध और प्रायश्चित्त विधियाँ प्रतिपादित की गई हैं।

छेदसूत्रों में निशीथ का अपना मौलिक स्थान है। व्यवहारसूत्र में यह स्पष्ट वर्णन है कि जो श्रमण बहुश्रुत हो, उसे कम से कम आचारप्रकल्प का अध्ययन आवश्यक है। जो आचारप्रकल्प का परिज्ञाता हो उसे ही उपाध्याय पद प्रदान किया जा सकता है।[2] जिस भिक्षु ने गुरु के मुखारबिन्द से आचारप्रकल्प का मूल अध्ययन किया हो और अर्थ की दृष्टि से अध्ययन करने का मन में दृढ़ संकल्प हो किन्तु आचार्य और उपाध्याय का आकस्मिक स्वर्गवास हो जाने पर उस

---

१. जं च महाकप्पसुयं, जाणिय से णाणि छेयसुत्ताणि।
चरणकरणाणुओगोत्ति, कालियत्थे उवगयाइं ॥
—आवश्यकनिर्युक्ति, ७७८; निशीथभाष्य ६१९०

२. तिवासपरियाए समणे निग्गन्थे आयारकुसले संजमकुसले पवयणकुसले पण्णत्तिकुसले संगहकुसले उवग्गहकुसले अक्खयायारे अभिन्नायारे असंकिलिट्ठायारचित्ते बहुस्सुए बब्भागमे जहन्नेणं आयारपकप्पधरे कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तिए व। —व्यवहार ३/३

श्रमण को आचार्यपद या उपाध्यायपद प्रदान किया जा सकता है।[1] यदि युवक श्रमण किसी कारण से आचारप्रकल्प को विस्मृत हो गया है तो पुनः स्मरण करने पर उसे आचार्य आदि पद दिया जा सकता है।[2] पर कोई स्थविर सन्त आचारप्रकल्प विस्मृत हो जाय और उसकी स्मरण करने की शक्ति नहीं है तो भी उसे आचार्य पद दिया जा सकता है।[3] जिस श्रमणी को आचारप्रकल्प याद है उसे प्रवर्तिनी पद दिया जा सकता है। यदि प्रमादवश जो श्रमणी आचारप्रकल्प विस्मृत हो गई है किन्तु वह पुनः स्मरण करने का प्रयत्न कर रही हो तो उसे प्रवर्तिनी पद दिया जा सकता है।[4]

जो श्रमण और श्रमणियाँ स्थविर हैं। अवस्थाविशेष के कारण यदि वे आचारप्रकल्प विस्मृत हो गये तो वे सोये हुए या बैठे हुए किसी भी अवस्था में आचारप्रकल्प के सम्बन्ध में प्रतिप्रश्न कर सकते हैं और प्रतिस्मृति भी कर सकते हैं, यह उनके लिए विशेष अनुज्ञा है। इन सभी विधानों से यह स्पष्ट है कि आचारप्रकल्प का कितना अधिक महत्व है। आचारप्रकल्पधर बहुश्रुत होता है, वह स्वतन्त्र विहार कर सकता है।

आचारप्रकल्पधर के तीन प्रकार हैं– (१) कितने ही केवल सूत्र को ही धारण करने वाले होते हैं। (२) कितने ही केवल अर्थ को धारण करने वाले होते हैं। (३) कितने ही सूत्र और अर्थ दोनों को धारण करने वाले होते हैं। जो केवल सूत्रधर है वह प्रायश्चित्त देने का अधिकारी नहीं। प्रायश्चित्त देने का सही अधिकारी वह श्रमण होता है जो सूत्र और अर्थ दोनों का धारक हो। सूत्र और अर्थ का धारक न हो तो जो केवल अर्थ के धारक हैं उनसे भी प्रायश्चित्त लिया जा सकता है।[5] अतीतकाल में यह प्रश्न बहुत ही चर्चित रहा कि केवलज्ञानी, मनःपर्यायज्ञानी और अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, दसपूर्वी, नौपूर्वी जब नहीं होते हैं

---

१. निरुद्धवासपरियाए समणे निग्गन्थे कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए, समुच्छेयकप्पंसि। तस्स णं आयारपकप्पस्स देसे अवट्ठिए, से य अहिज्जिस्सामित्ति अहिज्जेज्जा एवं से कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए, से य अहिज्जिस्सामित्ति नो अहिज्जेज्जा एवं से नो कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए। –व्यवहार ३/१०

२. व्यवहार, ५/१५

३. व्यवहार, ५/१७

४. व्यवहार, ५/१६

५. तिविहो य पकप्पधरो, सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव ।
सुत्तधरवज्जियाणं, तिगदुगपरियट्टणा गच्छे ॥ –निशीथभाष्य ६६६७

तब प्रायश्चित्त कौन दे ?[1] इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने लिखा है कि आज केवलज्ञानी आदि प्रत्यक्षज्ञानियों का अभाव है। पर प्रत्यक्षज्ञानियों के द्वारा पूर्वश्रुत से निबद्ध प्रायश्चित्तविधि आचारप्रकल्प में उद्धृत है। अतः आचारप्रकल्पधर आचार्य प्रायश्चित्त देने का अधिकारी है।[2]

प्रस्तुत विवेचन से यह स्पष्ट है कि जैन आगम साहित्य में निशीथ का अपना गौरवपूर्ण स्थान रहा है।

निशीथ के कर्ता

जैन आगमों की रचनाएँ दो प्रकार से हुई हैं –(१) कृत (२) निर्यूहण। जिन आगमों का निर्माण सर्वतन्त्र स्वतन्त्र रूप से हुआ है वे आगम कृत कहलाते हैं। जैसे–गणधरों के द्वारा द्वादशांगी की रचना की गई है और भिन्न-भिन्न स्थविरों के द्वारा उपांग साहित्य का निर्माण किया गया है। वे सब कृत आगम हैं। निर्यूहण आगम ये माने गये हैं–

(१) दशवैकालिक (२) आचारचूला (३) निशीथ (४) दशाश्रुतस्कन्ध (५) बृहत्कल्प (६) व्यवहार । इन छह आगमों में दशवैकालिक आगम का निर्यूहण चतुर्दशपूर्वधर शय्यंभवसूरि ने किया और शेष पांच आगमों का निर्यूहण भद्रबाहु स्वामी ने किया।[3] आचारांगनिर्युक्ति के मन्तव्यानुसार आचार-चूला स्थविरों के द्वारा निर्यूढ है।[4] आचारांगवृत्ति में आचार्य शीलांक ने स्थविर का अर्थ चतुर्दशपूर्वी किया है।[5]

प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व से निशीथ का निर्यूहण हुआ है। उस पूर्व में बीस वस्तु हैं। अर्थात् बीस अर्थाधिकार हैं। उनमें तीसरी वस्तु का नाम आयार है।

---

१. निशीथचूर्णि भाग ४, पृ. ४०३

२. उग्घायमणुग्घाया, मासचउमासिया उ पाच्छित्ता।
पुव्वगते च्चिय एते, णिज्जूढा जे पकप्पम्मि ॥ –निशीथभाष्य ६६७५

३. आयप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती।
कम्मप्पवायपुव्वा पिंडस्स उ एसणा तिविहा ॥
सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धि उ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ ॥ —दशवैकालिकनिर्युक्ति गाथा १६-१७

४. थेरेहिऽणुग्गहट्ठा सीसहिअं होउ पागडत्थं च।
आयाराओ अत्थो आयारग्गेसु पविभत्तो ॥ –आचारांगनिर्युक्ति २८७

५. स्थविरै : श्रुतवृद्धैश्चतुर्दशपूर्वविद्भिः । –आचारांगवृत्ति, पृ. २१०

आयार के भी बीस प्राभृतच्छेद हैं। अर्थात् उपविभाग हैं। बीसवें प्राभृतच्छेद से निशीथ निर्यूहण किया गया है।[1]

दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि के मतानुसार दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प और व्यवहार ये तीनों आगम प्रत्याख्यान नामक पूर्व से निर्यूढ हैं[2] और उन तीनों आगमों के निर्यूहक चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहुस्वामी हैं? यह स्पष्ट उल्लेख प्राप्त है।[3] पञ्चकल्प महाभाष्य में भी दशा, कल्प और व्यवहार के निर्यूहक भद्रबाहु बतलाये गये हैं[4] और पञ्चकल्पचूर्णि में आचारप्रकल्प (निशीथ), दशा, कल्प और व्यवहार इन चारों आगमों के निर्यूहक भद्रबाहुस्वामी माने गये हैं।[5] यहाँ पर यह प्रश्न चिन्तनीय है कि निर्युक्ति और भाष्य में आचारप्रकल्प का नाम नहीं आया। पर पञ्चकल्पचूर्णि में आचारप्रकल्प का नाम कैसे आया ? यह भी सम्भव है कि 'कल्प' शब्द से निर्युक्तिकार और भाष्यकार को बृहत्कल्प और आचारप्रकल्प ये दोनों ही ग्राह्य हों। जैसे निशीथभाष्य में 'कप्प' शब्द से उन्होंने दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार इन तीनों आगमों को ग्रहण किया है।[6] सम्भव है आचारचूला और छेदसूत्रों के निर्माता चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु हों।

पूर्ववर्ती आचार्यों ने आगम के तीन प्रकार बताये हैं—सूत्रागम, अर्थागम और तदुभयागम। अन्य दृष्टि से आगम के तीन प्रकार और भी हैं—आत्मागम, अनन्तरागम और परम्परागम। व्याख्या ग्रन्थों में इसका विवेचन इस प्रकार प्राप्त होता है। तीर्थंकर के लिए अर्थ आत्मागम है। वही अर्थ गणधरों के लिए

---

१. णिसीहं णवमा पुव्वा पच्चक्खाणस्स ततियवत्थूओ।
आयार नामधेज्जा, वीसतिमा पाहुडच्छेदा ॥ —निशीथभाष्य ६५००

२. कतरं सुत्तं ? दसाउकप्पो ववहारो य। कुतरातो उद्धृतं ? उच्यते पच्चक्खाणपुव्वाओ।
—दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि, पत्र २

३. वंदामि भद्दबाहुं, पाइणं चरिमसयलसुयनाणिं।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासु कप्पे य ववहारे ॥ —दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति १/१

४. तत्तोच्चिय णिज्जूढं, अणुग्गहट्ठाए सपयजतीणं।
तो सुत्तकारतो खलु, स भवति दसकप्पववहारो ॥
—पंचकल्पमहाभाष्य ११, बृहत्कल्पसूत्रम् षष्ठ वि. प्र. पृ. २

५. तेण भगवता आयारपकप्प-दसा-कप्प-ववहारा य नवमपुव्वनीसंदभूता निज्जूढा।
—पंचकल्पचूर्णि, पत्र १, बृहत्कल्प सूत्रम् षष्ठ वि. प्र. पृ. ३

६. कप्प पकप्पा तु सुते ..... ।
'कप्पो' त्ति दसाकप्पववहारा ॥ —चूर्णि
—निशीथभाष्य, ६३९५

अनन्तरागम है। गणधरों के लिए सूत्र आत्मागम है और गणधरशिष्यों के लिए सूत्र अनन्तरागम और अर्थ परम्परागम है। गणधर शिष्य के लिए तथा उसके पश्चात् शिष्यपरम्परा के लिए अर्थ और सूत्र दोनों ही आगम परम्परागम है। इनमें आगम का मूल स्रोत, प्रथम उपलब्धि और पारम्परिक उपलब्धि इन तीन दृष्टियों से चिन्तन किया है। आचार्य जिनदासगणि महत्तर की दृष्टि से तीर्थंकर निशीथ के अर्थप्ररूपक हैं। उनके अर्थ की प्रथम उपलब्धि गणधरों को हुई और उस अर्थ की पारम्परिक उपलब्धि उनके शिष्य और प्रशिष्यों को हुई और वर्तमान में हो रही है। सूत्रागम की दृष्टि से निशीथ सूत्र के रचयिता गणधर हैं। उस सूत्र की प्रथम उपलब्धि गणधर के शिष्यों को हुई और पारम्परिक उपलब्धि गणधर के प्रशिष्यों को हुई।[1]

इस प्रकार आचार्य जिनदासगणि महत्तर के अनुसार निशीथ के कर्त्ता अर्थ की दृष्टि से तीर्थंकर और सूत्र की दृष्टि से गणधर सिद्ध होते हैं। फिर सहज ही यह प्रश्न उद्‌बुद्ध होता है कि भद्रबाहु को पञ्चकल्पचूर्णिकार ने निशीथ का कर्त्ता किस प्रकार माना। प्रस्तुत प्रश्न पर जब हम गहराई से चिन्तन करते हैं तो हमें दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति में इसका समाधान मिलता है। वहाँ पर निर्युक्तिकार ने दशाश्रुतस्कन्ध के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए लिखा है कि प्रस्तुत दशाएँ अंगप्रविष्ट आगमों में प्राप्त दशाओं से लघु हैं। शिष्यों के अनुग्रह हेतु इन लघु दशाओं का निर्यूहण स्थविरों ने किया। पञ्चकल्पभाष्यचूर्णि के अनुसार वे स्थविर भद्रबाहु हैं। संक्षेप में यदि हम कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर हैं। सूत्र के रचयिता गणधर हैं और वर्तमान संक्षिप्त रूप के निर्माता भद्रबाहु स्वामी हैं।

निशीथसूत्र के अन्त में प्रशस्ति में तीन गाथाएँ प्राप्त होती हैं।[2] जिनके आधार पर विज्ञों में एक धारणा यह प्रचलित है कि निशीथ के कर्ता

---

१. "निसीहचूलज्झयणस्स तित्थगराणं अत्थस्स अत्तागमे, गणहराणं सुत्तस्स अत्तागमे गणाणं अत्थस्स अणंतरागमे। गणहरसिस्साणं सुत्तस्स अणंतरागमे, अत्थस्स परंपरागमे । तेण परं सेसाणं सुत्तस्सवि अत्थस्सवि णो अत्तागमे, णो अणन्तरागमे, परंपरागमे।"

—निशीथचूर्णि भाग १ पृ. ४

२. दंसणचरितजुओ जुत्तो गुत्तीसु सज्जणहिएसु।
नामेण विसाहगणी महत्तरओ गुणाण मंजूसा ॥
कित्तीकंति पिणद्धो जसपत्तो पडहो तिसागर निरुद्धो।
पुणरुत्तं भमइ सहिं ससिव्व गगणं गुणं तस्स ॥
तस्स लिहियं निसीहं धम्मधुराधरणपवर पुज्जस्स।
आरोग्गं धारणिज्जं सिस्सपसिस्सोव भोज्जं च ॥

—निशीथसूत्र भाग ४ पृ. ३९५

विशाखाचार्य हैं। श्वेताम्बर परम्परा की जितनी भी पट्टावलियाँ उपलब्ध हैं उनमें कहीं पर भी विशाखाचार्य का उल्लेख नहीं है। दिगम्बर परम्परा की पट्टावली में भद्रबाहु के पश्चात् विशाखाचार्य का नाम आया है। विशाखाचार्य दस पूर्वों के ज्ञाता थे। वीर निर्वाण के एक सौ बासठ वर्ष तक भद्रबाहु स्वामी थे। उसके पश्चात् ही विशाखाचार्य का युग प्रारम्भ हुआ। प्रशस्तिगाथाओं में विशाखाचार्य के लिए–**'तस्स लिहियं निसीहं'** यहाँ पर लिखित शब्द के रचयिता और लेखक ये दोनों अर्थ निकल सकते हैं। पट्टावलियों में अन्य किसी विशाखाचार्य का उल्लेख नहीं है। जब प्रशस्ति में निशीथ के लेखक के रूप में विशाखाचार्य का नाम स्पष्ट रूप से उल्लिखित था, फिर चूर्णिकार ने निशीथ को गणधरकृत क्यों लिखा और आचार्य शीलांक ने निशीथ के रचयिता स्थविर को चतुर्दश पूर्वविद् क्यों लिखा? इसके उत्तर में स्पष्ट रूप से कुछ भी कहना सम्भव नहीं।

एक प्रश्न यह भी समुत्पन्न होता है कि निर्युक्तिकार, भाष्यकार और चूर्णिकार के समक्ष ये प्रशस्ति गाथायें थीं या नहीं ? यदि यह माना जाय कि निशीथ के लेखक विशाखाचार्य थे तो दूसरा प्रश्न यह है कि क्या प्रशस्ति की गाथाएँ विशाखाचार्य ने बनाईं? गाथाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि स्वयं विशाखाचार्य अपना परिचय इस प्रकार नहीं दे सकते, वे अपने गुणों का उत्कीर्तन कैसे कर सकते हैं। यदि विशाखाचार्य ने ये गाथाएँ मूल ग्रन्थ के अन्त में दी होतीं तो निर्युक्तिकार को विशाखाचार्य का उल्लेख करने में क्या आपत्ति हो सकती थी ? वे फिर स्थविर शब्द से क्यों उल्लेख करते ? अतः यह स्पष्ट है कि निर्युक्तिकार के समक्ष प्रशस्ति की ये तीन गाथाएँ नहीं थीं। ये गाथाएँ विशाखाचार्य की होतीं तो चूर्णिकार भी इन गाथाओं पर चूर्णि अवश्य लिखते और बीसवें उद्देशक की संस्कृत व्याख्या में भी इसका संकेत अवश्य करते। इसलिए यह स्पष्ट लगता है कि ये गाथाएँ विशाखाचार्य के द्वारा लिखी हुई नहीं हैं। यदि यह कल्पना की जाय कि ये गाथाएँ विशाखाचार्य के द्वारा ही लिखित हैं तो यहाँ पर 'लिहिय' शब्द का अर्थ रचना नहीं अपितु पुस्तक लेखन है। यदि यह माना जाय कि भद्रबाहु ने निशीथ की रचना की और उस रचना को विशाखाचार्य ने लिपिबद्ध किया, यह भी सम्भव नहीं लगता। यदि दिगम्बर परम्परा के विशाखाचार्य ने निशीथ को लिपिबद्ध किया होता तो दिगम्बर परम्परा में निशीथ को मान्यता प्राप्त होती, पर निशीथ की जो मान्यता श्वेताम्बर परम्परा में है वह दिगम्बर परम्परा में नहीं है। इसलिए ऐसा लगता है कि निशीथ के लिपिकर्ता विशाखाचार्य दिगम्बर परम्परा के नहीं, अपितु श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य होने चाहिए। यह अन्वेषणीय है कि वे कौन थे ? कहाँ के थे ? उनकी

परिचय रेखाएँ क्या थीं?[1] प्रशस्ति की इन तीन गाथाओं को किसने बनाया और किसने निशीथ के अन्त में लिखा? इसका सही प्रमाण प्राप्त नहीं है। ऐसी स्थिति में इन गाथाओं के आधार पर निशीथ के कर्तृत्व का निर्णय करना उपयुक्त नहीं है। विशाखाचार्य के गुणों का उत्कीर्तन होने से ये गाथाएँ विशाखाचार्य के द्वारा निर्मित नहीं हैं। विशाखाचार्य के किसी शिष्य-प्रशिष्य ने ही ग्रन्थ के अन्त में अंकित किया हो, यह संभव है।

हम पूर्व पंक्तियों में यह अंकित कर आये हैं कि पञ्चकल्पचूर्णि के अनुसार निर्यूहक भद्रबाहु स्वामी हैं। इस मत का समर्थन आगम-प्रभावक पुण्यविजयजी ने भी किया है। यह आज अन्वेषण के पश्चात् स्पष्ट हो चुका है कि आचारचूला चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु के द्वारा निर्यूहण की गई है। आचारांग से आचारचूला की रचनाशैली सर्वथा पृथक् है। उसकी रचना आचारांग के पश्चात् हुई है।

एक शिष्य के अन्तर्मानस में यह प्रश्न उद्भूत हुआ कि वर्तमान में तीर्थंकर प्रभु नहीं हैं, न श्रुतकेवली ही हैं, न दसपूर्वी या नौपूर्वी ही हैं। ऐसी स्थिति में यदि कदाचित् दोष लग जाय तो उसका शुद्धिकरण कैसे होगा? विशिष्ट ज्ञानी के अभाव में कौन प्रायश्चित्त देकर साधना को निर्मल बनाएगा। आचार्य ने शिष्य के मुर्झाये हुए चेहरे को देखा। उसकी बात सुनी। आचार्य ने बहुत ही मधुर शब्दों मे कहा–'वत्स ! तुम्हारा चिन्तन उपयुक्त है। आज तीर्थंकर और चतुर्दशपूर्वी हमारे सामने नहीं हैं किन्तु चतुर्दशपूर्वधर द्वारा निबद्ध आचारप्रकल्प अध्ययन को धारण करने वाले आचार्य विद्यमान हैं। वे प्रायश्चित्त देकर शुद्धिकरण कर सकते हैं।[2]

जिनदासगणि महत्तर ने **'चोद्दसपुव्वणिबद्धो'** शब्द के दो अर्थ किये हैं– 'चतुर्दशपूर्वी द्वारा निबद्ध अथवा चतुर्दश पूर्वों से निर्यूढ' । हम पूर्व पंक्तियों में यह लिख चुके हैं कि निशीथ नौवें पूर्व से निर्यूढ किया गया है। अतः चतुर्दश पूर्वी निर्यूढ से कोई विशेष अर्थ प्रकट नहीं होता। इसलिए जिनदासगणि महत्तर ने निशीथ के कर्त्ता चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु को माना है। यह संगत प्रतीत होता है।

महामनीषी पण्डित दलसुखभाई मालवणिया ने विस्तार से अपनी प्रस्तावना में विविध दृष्टियों से चिन्तन किया। पर वे स्वयं इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके कि निशीथ के कर्त्ता कौन हैं। उनका यह मत अवश्य रहा कि भद्रबाहु नहीं होने

---

१. निशीथ एक अध्ययन : पं. दलसुख मालवणिया से सार ग्रहण पृ. १८-२४

२. कामं जिणपुव्वधरा, करिसु सोधिं तहा वि खलु एण्हिं ।
चोद्दसपुव्विणिबद्धो, गणपरियट्टी पकप्पधरो ॥ –निशीथभाष्य, ६६७४

चाहिए और न विशाखाचार्य ही। निशीथ की रचना श्वेताम्बर और दिगम्बर मतभेद के पूर्व होनी चाहिए। भद्रबाहु के पश्चात् ही श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में पार्थक्य हुआ है। निशीथ का दोनों ही परम्पराओं में उल्लेख है, इसलिए संघभेद के पूर्व ही इसका निर्माण हो गया होगा। व्यवहारसूत्र जो आचार्य भद्रबाहु की ही कृति मानी जाती है, उसमें आचारप्रकल्प का अनेक बार उल्लेख हुआ है।[1] इससे स्पष्ट है कि भद्रबाहु के समक्ष निशीथ अवश्य था। भले ही आज जो निशीथ का रूप है वह न भी हो। इस आधार से निशीथ को भद्रबाहु के समय से पूर्व की रचना मानना तर्कसंगत है। श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण से १५० वर्ष के अन्तर्गत ही निशीथ का निर्माण हो चुका था। पञ्चकल्पचूर्णि के अनुसार आचार्य भद्रबाहु ने निशीथ की रचना की, उनका भी समय यही है। दूसरी परम्परा के अनुसार यदि मानते हैं तो भद्रबाहु के पश्चात् ही विशाखाचार्य होते हैं। तो भी वीर निर्वाण से १७५ वर्ष के बीच निशीथ का निर्माण हो चुका था, ऐसा असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है।[2]

पण्डित मुनि श्री कल्याणविजयजी गणि का स्पष्ट मन्तव्य है कि बृहत्कल्प और व्यवहार इन दोनों आगमों को पूर्वश्रुत से निर्यूढ करने वाले भद्रबाहु स्वामी हैं और निशीथाध्ययन के निर्यूढकर्ता भद्रबाहु न होकर आर्यरक्षितसूरि हैं। भद्रबाहु स्वामी ने कल्प और व्यवहार में जो प्रायश्चित्त का विधान किया है वह तत्कालीन श्रमण-श्रमणियों के लिए पर्याप्त था किन्तु आर्यरक्षितसूरि के समय तक परिस्थिति में अत्यधिक परिवर्तन हो चुका था। मौर्यकालीन दुर्भिक्षादि की स्थिति समाप्त हो चुकी थी। राजा सम्प्रति मौर्य के समय श्रमण-श्रमणियों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हो चुकी थी। श्रमणों की संख्या की अभिवृद्धि के साथ अनेक नवीन समस्याएँ भी उपस्थित हो चुकी थीं। अतः कल्प और व्यवहार का प्रायश्चित्तविधान अपर्याप्त प्रतीत हुआ। एतदर्थ नवीन स्थितियों पर नियन्त्रण करने के लिए विस्तार से प्रायश्चित्तविधान बनाना आवश्यक था, अतः आर्यरक्षित ने पूर्व साहित्य से वह निर्यूढ किया। कल्पाध्ययन में छह उद्देशक थे, व्यवहार में दस उद्देशक थे तो निशीथाध्ययन में बीस उद्देशक हैं और लगभग १४२६ सूत्रों में प्रायश्चित्त का विधान है।

पञ्चकल्पभाष्य चूर्णिकार ने कल्प, व्यवहार आदि के साथ निशीथाध्ययन भी श्रुतधर भद्रबाहु स्वामी द्वारा पूर्वश्रुत से उद्धृत बताया है किन्तु सत्य-तथ्य यह नहीं हैं। बृहत्कल्प की भाषा और प्रतिपादित विषयों तथा निशीथाध्ययन के सूत्रों

---

१. व्यवहार उद्देश ३. १० उद्देश ५, सूत्र १५; उद्देश ६, सूत्र ४-५ इत्यादि।

२. निशीथ : एक अध्ययन पृ. २४-२५

की भाषा और उसमें प्रतिपादित विषयों में स्पष्ट रूप से भिन्नता प्रतीत होती है। यह सत्य है कि बृहत्कल्प की भाषा और व्यवहार की भाषा में भी भिन्नता है पर वह भिन्नता व्यवहार में बाद में किये गये परिवर्तनों के कारण है। यही कारण है कि व्यवहारसूत्रों में निशीथाध्ययन का प्रकल्पाध्ययन यह नाम प्राप्त होता है। यह परिवर्तन सम्भव है आर्यरक्षितसूरि के पश्चात् हुआ हो।[1]

निशीथ का आधार और विषय-वर्णन

निशीथ आचारांग की पांचवी चूला है। इसे एक स्वतन्त्र अध्ययन भी कहते हैं। इसीलिए इसका अपर नाम निशीथाध्ययन भी है। इसमें बीस उद्देशक हैं। पूर्व के उन्नीस उद्देशकों में प्रायश्चित्त का विधान है और बीसवें उद्देशक में प्रायश्चित्त देने की प्रक्रिया प्रतिपादित की गई है।

उद्देशक प्रथम में मासिक अनुद्घातिक (गुरु मास) प्रायश्चित्त का उल्लेख है। उद्देशक दूसरे से लेकर पांचवे तक मासिक उद्घातिक (लघुमास) प्रायश्चित्त का उल्लेख है। उद्देशक छह से लेकर ग्यारह तक चातुर्मासिक अनुद्घातिक (गुरु चातुर्मास) प्रायश्चित्त का उल्लेख है। उद्देशक बारह से लेकर बीस तक चातुर्मासिक उद्घातिक (लघु चातुर्मास) प्रायश्चित्त का उल्लेख है। इन उद्देशकों का जो विभाजन किया गया है उसका आधार है मासिक उद्घातिक, मासिक अनुद्घातिक, चातुर्मासिक, चातुर्मासिक अनुद्घातिक और आरोपणा, ये पाँच विकल्प हैं। स्थानांगसूत्र के पांचवें स्थान में आचारकल्प के पांच प्रकार बताये हैं।[2]

यदि हम गहराई से चिन्तन करें तो प्रायश्चित्त के दो ही प्रकार हैं—मासिक और चातुर्मासिक। शेष द्विमासिक, त्रिमासिक, पञ्चमासिक और छह मासिक ये प्रायश्चित्त आरोपणा के द्वारा बनते हैं। बीसवें उद्देशक का प्रमुख विषय आरोपणा ही है। स्थानांगसूत्र के पांचवें स्थान में आरोपणा के पांच प्रकार बताये हैं। आरोपणा का अर्थ है एक दोष से प्राप्त प्रायश्चित्त में दूसरे दोष के आसेवन से प्राप्त प्रायश्चित्त का आरोपण करना। उसके पाँच प्रकार हैं[3]—

---

१. प्रबन्ध पारिजात में 'निशीथसूत्र का निर्माण और निर्माता' लेख ।

२. पंचविहे आयारकप्पे पण्णत्ते, तं जहा—
मासिए उग्घातिए मासिए अणुग्घातिए चउमासिए उग्घातिए चउमासिए अणुग्घातिए आरोवणा। —ठाणं ५, १४५ पृ. ५८८

३. आरोवणा पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा—
पट्ठविया, ठविया, कसिणा, अकसिणा, हाडहडा। —ठाणं ५, १४९ पृ. ५८९

१. प्रस्थापिता – प्रायश्चित्त में प्राप्त अनेक तपों में से किसी एक तप को प्रारम्भ करना।

२. स्थापिता–प्रायश्चित्त रूप से प्राप्त तपों को स्थापित किये रखना, वैयावृत्य आदि किसी प्रयोजन से प्रारम्भ न कर पाना।

३. कृत्स्ना–वर्तमान जैन शासन में तप की उत्कृष्ट अवधि छह मास की है। जिसे इस अवधि से अधिक तप (प्रायश्चित्त रूप में) प्राप्त न हो उसकी आरोपणा को अपनी अवधि में परिपूर्ण होने के कारण कृत्स्ना कहा जाता है।

४. अकृत्स्ना–जिसे छह मास से अधिक तप प्राप्त हो, उसकी आरोपणा अपनी अवधि से पूर्ण नहीं होती। प्रायश्चित्त के रूप में छह मास से अधिक तप नहीं किया जाता। उसे उसी अवधि में समाहित करना होता है। इसे अपूर्ण होने के कारण इसे अकृत्स्ना कहा जाता है।

५. हाडहडा–जो प्रायश्चित्त प्राप्त हो उसे शीघ्र ही दे देना।

प्रायश्चित्त के (१) मासिक और (२) चातुर्मासिक ये दो प्रकार हैं। शेष द्विमासिक, त्रिमासिक, पञ्चमासिक और षाण्मासिक प्रायश्चित्त आरोपणा से बनते हैं। निशीथ के बीसवें उद्देशक का मुख्य विषय आरोपणा ही है। स्थानांग में केवल आरोपणा के पांच प्रकार ही प्रतिपादित हैं। वहाँ पर समवायांग में आरोपणा के अट्ठाईस प्रकार बतलाये हैं।[1] वे इस प्रकार हैं–(१) एक मास की, (२) पैंतीस दिन की (३) चालीस दिन की (४) पैंतालीस दिन की (५) पचास दिन की (६) सत्तावन दिन की (७) दो मास की (८) पैंसठ दिन की (९) सत्तर दिन की (१०) पचहत्तर दिन की (११) अस्सी दिन की (१२) पचासी दिन की (१३) तीन मास की (१४) सत्तानवें दिन की (१५) सौ दिन की (१६) एक सौ पाँच दिन की (१७) एक सौ दस दिन की (१८) एक सौ पन्द्रह दिन की (१९) चार मास की (२०) एक सौ पच्चीस दिन की (२१) एक सौ तीस दिन की (२२) एक सौ पैंतीस दिन की (२३) एक सौ चालीस दिन की (२४) एक सौ पैंतालीस दिन की (२५) उद्घातिकी आरोपणा (२६) अनुद्घातिकी आरोपणा (२७) कृत्स्ना आरोपणा (२८) अकृत्स्ना आरोपणा।

जिस तीर्थंकर के शासन में तीर्थंकर स्वयं उत्कृष्ट तप की जितनी आराधना करते हैं, उससे अधिक तप की आराधना उसके शासन में अन्य व्यक्ति नहीं कर पाते। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने एक संवत्सर तक तप की आराधना

---

१. समवायांग समवाय २८

की। उनके शासन में एक संवत्सर से अधिक तपस्या का विधान नहीं था। भगवान् अजितनाथ से लेकर भगवान् पार्श्वनाथ के शासन तक आठ मास के तप की आराधना साधक कर सकता था। भगवान् महावीर ने उत्कृष्ट तप की आराधना छह मास की थी, इसलिए उनके शासन में तपस्या का विधान छह मास का है, उससे अधिक नहीं। इसलिए भ. महावीर के शासन में आरोपणा प्राप्त प्रायश्चित्त का विधान भी छह मासिक से अधिक नहीं है।[1] छेद प्रायश्चित्त भी उत्कृष्ट छह मास का होता है। वह अधिक से अधिक तीन बार तक दिया जा सकता है। उसके पश्चात् मूल प्रायश्चित्त दिया जाता है।

दशाश्रुतस्कन्ध, व्यवहार, बृहत्कल्प आदि छेदसूत्रों से निशीथ की रचना शैली पृथक् है। उन्नीस उद्देशकों तक प्रत्येक सूत्र साइज्जइ से पूर्ण होता है और प्रायश्चित्त विधान के साथ उद्देशक पूर्ण होता है। किन्तु बीसवें उद्देशक की रचनाशैली उन्नीस उद्देशकों से बिल्कुल अलग-थलग है। बीसवें उद्देशक में अनेक तथ्य दिये गये हैं। किन्तु सूत्र की शैली बहुत ही संक्षिप्त है। अतः सूत्र में रहे हुए गुरु गम्भीर रहस्य को बिना गुरुगम के या बिना व्याख्या साहित्य के समझना बहुत ही कठिन है। यही कारण है प्रस्तुत सूत्र पर अत्यधिक विस्तार से भाष्य, चूर्णि आदि का निर्माण हुआ है। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, सुबोध व्याख्या आदि में उत्सर्ग और अपवाद मार्ग की विस्तार से चर्चा है।

साधना के दो मार्ग : उत्सर्ग और अपवाद

जैनसंस्कृति में साधना का गौरवपूर्ण स्थान है। प्राचीन जैन साहित्य के पृष्ठ साधना के उज्ज्वल समुज्ज्वल आलोक से जगमगा रहे हैं। साधना को जीवन का प्राण कहा है। सम्यक् साधना से ही साधक अपने साध्य को प्राप्त करता है। साधक के जीवन के कण-कण में त्याग, तप, स्वाध्याय और ध्यान की सरस सरिता बहती है।

---

१. (क) सुबहुहिं वि मासेहिं, छण्हं मासाण परं ण दायव्वं॥ ६५२४ चूर्णि–तवारिहेहिं बहुहिं मासेहिं छम्मासा परं ण दिज्जइ सव्वस्सेव एस णियमो, एत्थ कारणं जम्हा अम्हं वद्धमाणसामिणो एवं चेव परं पमाणं ठवितं॥

(ख) छम्मासोवरि जइ पुणो आवज्जइ तो तिण्णि वारा लहु चेव छेदो दायव्वो। एस अविसिट्ठो वा तिण्ण वारा छल्लहु छेदो।
अहवा–जं चेव तव तियं तं छेदतिय पि–मासब्भंतरं, चउमासब्भंतरं छम्मासब्भंतरं च, जम्हा एवं तम्हा भिण्णमासादि जाव छम्मासं, तेसु छिण्णेसु छेय तियं अतिक्कंतं भवति। ततो वि जति परं आवज्जति तो तिण्णि वारा मूलं दिज्जति।
–निशीथचूर्णि भाग ४,५, ३५१-५२.

उत्सर्ग और अपवाद मार्ग

जैन साधना रूपी सरिता के दो तट हैं–एक 'उत्सर्ग' है और दूसरा 'अपवाद'। उत्सर्ग शब्द का अर्थ 'मुख्य' और अपवाद शब्द का अर्थ 'गौण' है। उत्सर्ग मार्ग का अर्थ है आन्तरिक जीवन, चारित्र और सद्गुणों की रक्षा, शुद्धि और अभिवृद्धि के लिए प्रमुख नियमों का विधान और अपवाद का अर्थ है आन्तरिक जीवन आदि की रक्षा हेतु, उसकी शुद्धि वृद्धि के लिए बाधक नियमों का विधान। उत्सर्ग और अपवाद दोनों का लक्ष्य एक है और वह है साधना को उपासना के पथ पर आगे बढ़ाना। सामान्य साधक के मानस में यह विचार उद्भूत हो सकते हैं कि जब उत्सर्ग और अपवाद इन दोनों का लक्ष्य एक है तो फिर दो रूप क्यों हैं ?

उत्तर में निवेदन है कि जैन संस्कृति के मर्मज्ञ महामनीषियों ने मानव की शारीरिक और मानसिक दुर्बलता को लक्ष्य में रखकर तथा संघ के समुत्कर्ष को ध्यान में रखकर उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का निरूपण किया है। निशीथभाष्यकार ने लिखा है कि समर्थ साधक के लिए उत्सर्ग स्थिति में जिन द्रव्यों का निषेध किया गया है, असमर्थ साधक के लिए अपवाद की परिस्थिति में विशेष कारण से वह वस्तु ग्राह्य भी हो जाती है।[1]

उत्सर्ग और अपवाद, विरोधी नहीं

आचार्य जिनदासगणि महत्तर[2] ने लिखा है कि जो बातें उत्सर्ग मार्ग में निषिद्ध की गई हैं वे सभी बातें कारण सन्मुख होने पर कल्पनीय व ग्राह्य हो जाती हैं। इसका कारण यह है कि उत्सर्ग और अपवाद दोनों का लक्ष्य एक है, वे एक-दूसरे के पूरक हैं। साधक दोनों के सुमेल से ही साधना पथ पर सम्यक् प्रकार से बढ़ सकता है। यदि उत्सर्ग और अपवाद दोनों एक-दूसरे के विरोधी हों तो वे उत्सर्ग और अपवाद नहीं हैं किन्तु स्वच्छन्दता का पोषण करने वाले हैं। आगम साहित्य में दोनों को मार्ग कहा है। एक मार्ग राजमार्ग की तरह सीधा है तो दूसरा जरा घुमावदार है।

---

१. उस्सग्गेण णिसिद्धाणि जाणि दव्वाणि संथरे मुणिणो।
कारणजाए जाते, सव्वाणि वि ताणि कप्पंति॥ –निशीथभाष्य ५२४५

२. जाणि उस्सग्गे पडिसिद्धाणि उप्पण्णे कारणे सव्वाणि वि ताणि कप्पंति। ण दोषो ····।
–निशीथचूर्णि ५२४५

सामान्य विधि : उत्सर्ग

उत्सर्ग मार्ग पर चलना यह साधक के जीवन की सामान्य पद्धति है। एक व्यक्ति राजमार्ग पर चल रहा है, किन्तु राजमार्ग पर प्रतिरोध-विशेष उत्पन्न होने पर वह राजमार्ग को छोड़कर सन्निकट की पगडण्डी को ग्रहण करता है। कुछ दूर चलने पर जब अनुकूलता होती है तो पुनः राजमार्ग पर लौट आता है। यही स्थिति साधक की उत्सर्ग मार्ग से अपवाद मार्ग को ग्रहण करने के सम्बन्ध में है और पुनः यही विधि अपवाद से उत्सर्ग में आने की है।

उत्सर्ग मार्ग सामान्य विधि है। इस विधि पर वह निरन्तर चलता है। बिना विशेष परिस्थिति के उत्सर्ग मार्ग नहीं छोड़ना चाहिये। जो साधक बिना कारण ही उत्सर्ग मार्ग को छोड़कर अपवाद मार्ग को अपनाता है वह आराधक नहीं, अपितु विराधक है। पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति यदि औषधि ग्रहण करता है या रोग मिट जाने पर भी बीमारी का अभिनय कर औषधि आदि ग्रहण करता है तो वह अपने कर्तव्य से च्युत होता है। विशेष कारण के अभाव में अपवाद का सेवन नहीं करना चाहिए। साथ ही जिस कारण से अपवाद का सेवन किया है, उस कारण के समाप्त होते ही उसे पुनः उत्सर्ग मार्ग को अपनाना चाहिए।

विशिष्ट विधि : अपवाद

हम पूर्व में बता चुके हैं कि अपवाद एक विशिष्ट मार्ग है। उत्सर्ग के समान ही वह संयम साधना का ही मार्ग है। पर अपवाद वास्तविक अपवाद होना चाहिए। यदि अपवाद के पीछे इन्द्रियपोषण की भावना है तो वह अपवाद मार्ग नहीं है। अतः साधक को अपवाद मार्ग में सतत जागरूक रहने की आवश्यकता है। जितना अति आवश्यक हो, उतना ही अपवाद का सेवन किया जा सकता है, निरन्तर नहीं। अपवाद मार्ग पर तो किसी विशेष स्थिति–परिस्थिति में ही चला जाता है। अपवाद का मार्ग चमचमाती हुई तलवार की तीक्ष्ण धार के सदृश है। उस पर प्रत्येक साधक नहीं चल सकता। जिस साधक ने आचारांग आदि आगम साहित्य का गहराई से अध्ययन किया है, छेदसूत्रों के गम्भीर रहस्यों को समझा है, उत्सर्ग मार्ग और अपवाद मार्ग का जिसे स्पष्ट परिज्ञान है, वह गीतार्थ महान् साधक ही अपवाद को अपना सकता है। जिसे देश, काल और स्थिति का परिज्ञान नहीं है, ऐसा अगीतार्थ यदि अपवाद मार्ग को अपनाता है तो वह साधना से च्युत हो सकता है। कुशल व्यापारी आय और व्यय को सम्यक् प्रकार से समझकर ही व्यापार करता है, वह अल्प व्यय कर अधिकाधिक लाभ उठाता

है। वैसे ही गीतार्थ श्रमण परिस्थिति विशेष में दोष का सेवन करके भी अधिक सद्गुणों की वृद्धि करता है।

आचार्य भद्रबाहु[1] ने गीतार्थ के सद्गुणों का विवेचन करते हुए लिखा है– आय-व्यय, कारण-अकारण, आगाढ़ (ग्लान)-अनागाढ़, वस्तु-अवस्तु, युक्त-अयुक्त, समर्थ-असमर्थ, यतना-अयतना का सम्यक् ज्ञान गीतार्थ को रहता है और वह कर्तव्य और कार्य का परिणाम भी जानना है।

गीतार्थ पर जिम्मेदारी होती है कि वह अपवाद स्वयं सेवन करे या दूसरों को अपवाद सेवन की अनुमति दे। अगीतार्थ श्रमण अपवाद सेवन करने का स्वयं निर्णय नहीं ले सकता। गीतार्थ को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का परिज्ञान होता है, जिससे वह साधना के पथ पर बढ़ सकता है।

आचार्य संघदासगणि[2] ने सुन्दर रूपक के द्वारा उत्सर्ग और अपवाद मार्ग को बताया है। एक यात्री अपने लक्ष्य की ओर द्रुत गति से चल रहा है। वह कभी तेजी से कदम बढ़ाता है तो कभी जल्दी पहुँचने के लिए वह दौड़ता भी है। पर जब वह बहुत ही थक जाता है और आगे उसे विषम मार्ग दिखाई देता है, तब विश्रान्ति के लिए कुछ क्षणों तक बैठता है, क्योंकि बिना विश्राम किये एक कदम भी चलना उसके लिए कठिन है। लेकिन उस यात्री का विश्राम आगे बढ़ने के लिए है। उसकी विश्रान्ति, विश्रान्ति के लिए नहीं; अपितु प्रगति के लिए है।

साधक भी उसी तरह उत्सर्ग मार्ग पर चलता है; किन्तु कारणवशात् उसे अपवाद मार्ग का अवलम्बन लेना पड़ता है। वह अपवाद उत्सर्ग की रक्षा के लिए ही है, उसके ध्वंस के लिए नहीं है। कल्पना कीजिए–शरीर में एक भयंकर जहरीला फोड़ा हो चुका है। शरीर की रक्षा के लिए उस फोड़े की शल्यचिकित्सा की जाती है। शरीर का जो छेदन-भेदन होता है वह शरीर के विनाश के लिए नहीं, अपितु शरीर की रक्षा के लिए है।

यदि साधक पूर्ण समर्थ है और विशिष्ट स्थिति उत्पन्न होने पर वह सहर्ष भाव से मृत्यु का वरण कर सकता हो तो वह समाधिपूर्वक वरण करे। यदि मृत्यु को वरण करने में समाधिभाव भंग होता है तो वह जीवन को बचाने हेतु संयम की रक्षा के लिए प्रयत्न करे।

---

१. आयं कारण गाढं वत्थु जुत्तं ससत्ति जयणं च।
सव्वं च सपडिवक्खं फलं च विधिवं वियाणाह॥ –बृहत्कल्पनिर्युक्तिभाष्य ९५१

२. धावंतो उव्वाओ मग्गन्तू किं न गच्छइ कमेणं।
किं वा मउई किरिया, न कीरए असहुओ तिक्खं॥ –बृहत्कल्पभाष्य पीठिका, ३२०

ओघनिर्युक्ति की टीका में आचार्य द्रोण[1] ने लिखा है–अपवाद सेवन करने वाले साधक के परिणाम पूर्ण विशुद्ध हैं और पूर्ण विशुद्ध परिणाम मोक्ष का कारण है, संसार का नहीं। साधक का शरीर संयम के लिए है। यदि शरीर ही नहीं रहा तो वह संयम की आराधना किस प्रकार कर सकेगा ? संयम की साधना के लिए शरीर का पालन आवश्यक है।[2] साधक का लक्ष्य न जीवित रहना है और न मरना है। न वह जीवित रहने की इच्छा करता है और न मरने की इच्छा करता है। वह जीवित इसलिए रहना चाहता है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र की वृद्धि हो सके। जिस कार्य से ज्ञान, दर्शन, चारित्र की सिद्धि और वृद्धि हो, संयम-साधना में निर्मलता आये, उस कार्य को वह करना पसन्द करता है। जब देखता है कि शरीर ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि में बाधक बन रहा है तो वह सस्नेह मरण को स्वीकार कर लेता है।

स्वस्थान और परस्थान

एक शिष्य ने जिज्ञासा प्रस्तुत की–भगवन् ! बताइए, साधक के लिए उत्सर्ग स्वस्थान है या अपवाद ? समाधान प्रदान किया गया कि जिस साधक का शरीर पूर्ण स्वस्थ है और समर्थ है उसके लिए उत्सर्ग मार्ग ही स्वस्थान है और अपवाद परस्थान है। पर जिसका शरीर रुग्ण है, असमर्थ है, उसके लिए अपवाद स्वस्थान है और उत्सर्ग परस्थान है।[3]

साधक में जहाँ संयम का जोश होता है वहाँ उसमें विवेक का होश भी होता है। अपवाद मार्ग का निरूपण सिर्फ स्थविरकल्प[4] की दृष्टि से किया गया है। जिनकल्पी श्रमण तो केवल उत्सर्ग मार्ग पर ही चलते हैं।[5]

अपवाद यानी रहस्य

निशीथचूर्णि में उत्सर्ग के लिए 'प्रतिषेध' शब्द का प्रयोग हुआ है और अपवाद के लिए 'अनुज्ञा'। उत्सर्ग प्रतिषेध है और अपवाद विधि है। संयमी

---

१. न याऽविरई किं कारणं ? तस्याशयशुद्धतया विशुद्ध परिणामस्य च मोक्षहेतुत्वात्।
–ओघनिर्युक्ति टीका गा. ४६

२. संजमहेउं देहो धारिज्जइ सो कओ उ तदभावे।
संजम फाइनिमित्तं, देह परिपालना इट्ठा॥ –ओघनिर्युक्ति ४७

३. संथरओ सट्ठाणं उस्सग्गो अस हुणो परट्ठाणं।
इय सट्ठाणं परं वा, न होइ वत्थु-विणा किंचि॥ –बृहत्कल्पभाष्य पीठिका ३२४

४. निशीथभाष्य गा. ८७

५. निशीथभाष्य गा. ६६९८ उत्थानचूर्णि

श्रमण के लिए जितने भी निषिद्ध कार्य बताये गये हैं, वे प्रतिषेध के अन्तर्गत आ जाते हैं और परिस्थिति-विशेष में जब इन निषिद्ध कार्यों के करने की अनुज्ञा दी जाती है तब वे निषिद्ध कार्य विधि बन जाते हैं।[१] परिस्थिति विशेष से अकर्तव्य भी कभी कर्तव्य बन जाता है। साधारण साधक प्रतिषेध को विधि में परिणत करने की शक्ति नहीं रखता। वह औचित्य-अनौचित्य का परीक्षण भी नहीं कर सकता। इसीलिए अपवाद, अनुज्ञा या विधि प्रत्येक साधक को नहीं बताई जाती। एतदर्थ ही निशीथचूर्णि में अपवाद का पर्यायवाची रहस्य भी है।[२]

जैसे प्रतिषेध (उत्सर्ग) का पालन करने से आचार विशुद्ध रहता है उस तरह अपवाद मार्ग का अवलम्बन करने पर भी आचरण विशुद्ध ही मानना चाहिए।[३]

अपवाद क्यों और किसलिए ?

अपवाद मार्ग ग्रहण करने के पूर्व अनेक शर्तें रखी गई हैं। उन शर्तों की ओर लक्ष्य न दिया गया तो अपवाद मार्ग पतन का कारण बन जाएगा। एतदर्थ ही प्रतिसेवना के दो भेद हैं—अकारण अपवाद का सेवन 'दर्पप्रतिसेवना' है और कारण से प्रतिसेवना "कल्प" है। हम पूर्व में बता चुके हैं कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र की साधना व आराधना करता हुआ साधक मोक्षमार्ग की ओर बढ़ता है। चारित्र का पालन ज्ञान और दर्शन की वृद्धि के लिए है। जिस चारित्र की आराधना से ज्ञान-दर्शन की हानि होती हो, वह चारित्र नहीं। चारित्र वही है जो ज्ञान-दर्शन को पुष्ट करता हो। ज्ञान-दर्शन के कारण चारित्र में अपवाद सेवन करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। वे सभी अपवाद कल्पप्रतिसेवना में इसलिए लिए जाते हैं कि वे साधक को साधना से च्युत नहीं करते। जो भी अपवाद सेवन किया जाय उसमें ज्ञान और दर्शन ये दो मुख्य लक्ष्य होने चाहिए। यदि उन दोनों में से कोई भी कारण नहीं है तो वह प्रतिसेवना दर्प है। साधक का कर्तव्य है कि दर्प का परित्याग कर कल्प को ग्रहण करे। क्योंकि दर्प साधक के लिए निषिद्ध माना गया है।[४]

एक जिज्ञासा हो सकती है—निशीथ भाष्य[५] व चूर्णि आदि में दुर्भिक्ष आदि की स्थिति में भी अपवाद सेवन किये जाते रहे हैं, ऐसा उल्लेख है। फिर ज्ञान

---

१. निशीथभाष्य गा. ५२४५
२. निशीथचूर्णि गा. ४९५
३. निशीथचूर्णि गा. २८७, १०२२, १०६८, ४१०३
४. निशीथभाष्य गा. ८८ उसकी चूर्णि तथा गा. १४४, ३६३, ४६३ ।
५. निशीथभाष्य गा. १७५, १६२, १८८, २२०, २२५, २४४, २५३, ३२१, ३४२, ३८४, ३९१, ४१९, ४२५, ४५३, ४५८, ४७१, ४८४, ४८५ आदि।

और दर्शन से ही अपवाद सेवन की बात कैसे कही गयी ? समाधान है–ज्ञान और दर्शन ये दो मुख्य कारण हैं ही। दुर्भिक्ष आदि में साक्षात् ज्ञान और दर्शन की हानि नहीं होती, किन्तु परम्परा से ज्ञान और दर्शन की हानि होने से उन्हें लिया गया है।

दुर्भिक्ष में आहार की प्राप्ति नहीं हो सकती और बिना आहार स्वाध्याय आदि नहीं हो सकता। इसलिए उसे अपवाद के कारणों में गिना है।

निशीथभाष्य में दर्पप्रतिसेवना और कल्पप्रतिसेवना को प्रमाद-प्रतिसेवना और अप्रमाद-प्रतिसेवना भी बताया गया है। क्योंकि प्रमाद दर्प है और अप्रमाद कल्प है। जिस आचरण में प्रमाद है वह दर्पप्रतिसेवना है और अप्रमाद है वह कल्पप्रतिसेवना है।[1]

अहिंसा की दृष्टि से उत्सर्ग व अपवाद

जैन आचार की मूल भित्ति अहिंसा पर आधृत है। अन्य चारों महाव्रत अहिंसा के विस्तार हैं। जिस कार्य में प्रमाद है, वह हिंसा है। संयमी साधक के जीवन में अप्रमाद का प्राधान्य होता है। अप्रमाद-प्रतिसेवना के भी दो भेद किये गये हैं–अनाभोग और सहसाकार।[2] अप्रमादी होने पर भी ईर्या आदि समिति की विस्मृति हो जाय, किसी कारण से स्वल्प काल के लिए उपयोग न रहे तो वह अनाभोग है। उसमें प्राणातिपात नहीं है, पर विस्मृति है। प्रवृत्ति हो जाने के पश्चात् यह ज्ञात हो कि हिंसा की सम्भावना है तो वह प्रतिसेवना सहसाकार है। जैसे संयमी साधक विवेकपूर्वक गमन कर रहा है। पहले जीव दिखाई न दिया हो पर ज्यों ही कदम उठाया कि जीव पर दृष्टि पड़ी। बचाने का प्रयत्न करने पर भी सहसा जीव के ऊपर पैर पड़ गया और वह प्राणी मर गया तो यह 'सहसा-प्रतिसेवना' है। अप्रमाद होने के कारण वह कर्मबन्धन नहीं है। अहिंसा का आराधन करना श्रमण का उत्सर्ग मार्ग है। वह मन, वचन, काया से किसी भी प्रकार की जीव-हिंसा नहीं करता। आचारांग, दशवैकालिक तथा अन्य आगम साहित्य में अहिंसा महाव्रत का सूक्ष्म विश्लेषण है। श्रमण किसी भी सचित्त वस्तु का स्पर्श नहीं कर सकता; पर आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में यह स्पष्ट बताया है कि एक श्रमण अन्य रास्ते के अभाव में किसी ऊँचे-नीचे, टेढ़े-मेढ़े, ऊबड़-खाबड़ मार्ग या जहाँ पर सेना के पड़ाव पड़े हों, रथ और गाड़ियाँ पड़ी हों, धान्य के ढेर पड़े हों, प्रथम तो ऐसे विषम और संकटापन्न मार्ग से श्रमण को

---

१. निशीथभाष्य गा. ९१ ।
२. निशीथभाष्य गा. ९०-९५ ।

नहीं जाना चाहिए। यदि अनिवार्य कारणवश ऊँचे-नीचे मार्ग से आवश्यक ही हो तो वनस्पति अथवा किसी पथिक के हाथ का सहारा ले सकता है।

उत्सर्ग मार्ग में श्रमण हरित वनस्पति को स्पर्श नहीं कर सकता, पर जो यहाँ पर अपवाद में हरित वनस्पति आदि पकड़ने का विधान है, वह विधान वनस्पतिकाय के जीवों की विराधना करने के लिए नहीं है, अपितु अहिंसा के लिए ही यह विधान है। यदि श्रमण गिर जाता है तो उसका अंग भंग भी हो सकता है और मन में संकल्प-विकल्प भी हो सकता है। साथ ही गिरने से दूसरे जीवों की विराधना भी हो सकती है। अतः स्व और पर दोनों प्रकार की हिंसा को लक्ष्य में रखकर ही अहिंसा में अपवाद का उल्लेख किया गया है।[1]

इसी तरह सचित्त पानी को श्रमण स्पर्श नहीं कर सकता पर उमड़-घुमड़कर घटायें आ रही हों और जोर से वर्षा हो रही हो, उस समय उच्चार-प्रस्रवण के लिए वह बाहर जा सकता है।[2] बलात् मल-मूत्र का निरोध करना निषिद्ध है। क्योंकि मल-मूत्र के निरोध से शरीर में आकुलता-व्याकुलता पैदा हो सकती है, रोग भी उत्पन्न हो सकते हैं, जो स्वास्थ्य और शरीर तथा संयम के लिए हानिप्रद है।

सत्य व अन्य महाव्रतों की दृष्टि से उत्सर्ग-अपवाद

अहिंसा महाव्रत की भाँति ही सत्य भी श्रमण का जीवनव्रत है। आचारांग में यह भी विधान है कि एक श्रमण विहार करके जा रहा है, सामने से व्याध आदि आ जाय और वह श्रमण से पूछे क्या तुमने इधर किसी पशु आदि को जाते देखा है ? श्रमण ऐसे प्रसंग में मौन रहे। यदि मौन रहने की स्थिति न हो तो जानता हुआ भी नहीं जानता हूँ, इस प्रकार कहे। यह सत्य का अपवाद मार्ग है।[3]

सूत्रकृतांगसूत्र की वृत्ति में आचार्य शीलांक[4] ने स्पष्ट किया है कि जिसमें पर-वंचना की बुद्धि नहीं है, केवल संयम-गुप्ति के लिए कल्याण भावना से बोला गया असत्य दोष रूप नहीं है किन्तु जो मृषावाद कपटपूर्वक दूसरों को ठगने के लिए बोला जाता है वह दोष रूप है। अतः हेय है।[5]

---

१. आचारांग २ श्रुत. ईर्याध्ययन उ. २।
२. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति, तीसरा प्रकाश, ७७ वां श्लोक।
३. (क) आचारांग २-१-३-३-१२९ वृत्ति भी देखें।
   (ख) निशीथ चूर्णि भाष्य, गाथा ३२२
४. सूत्रकृतांग वृत्ति १-८-१९
५. सादियं णो मुसं बूया, एसधम्मे बुसीमओ। —सूत्रकृतांग १-८-१९

सत्य की तरह अस्तेय महाव्रत की साधना में बिना दी हुई वस्तु को श्रमण ग्रहण नहीं करता। पर इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न हो कि श्रमण किसी ऐसे स्थान पर पहुँचा है जहाँ पर स्थान की सुविधा नहीं है, भयंकर शीत और वर्षा है, ऐसी स्थिति में श्रमण पहले बिना आज्ञा ग्रहण किये ठहर जाय। उसके पश्चात् आज्ञा प्राप्त करने का प्रयास करे।[1]

इसी तरह श्रमण ब्रह्मचर्य महाव्रत की रक्षा के लिए नवजात कन्या को भी स्पर्श नहीं कर सकता पर वही श्रमण नदी में डूब रही भिक्षुणी को पकड़कर निकाल सकता है।[2]

इसी तरह अपरिग्रह महाव्रत में चौदह उपकरणों के अतिरिक्त उपकरण रखना आदि भी परिग्रह में ही है। किन्तु पुस्तक, लेखन-सामग्री आदि ज्ञान के साधन रूप समझकर ग्रहण किये जाते हैं।[3] अतः उन्हें परिग्रह नहीं माना जाता।

दशवैकालिक[4] आदि में यह स्पष्ट विधान है कि श्रमण किसी गृहस्थ के यहाँ पर न बैठे, क्योंकि बैठना अनाचार माना गया है, किन्तु दशवैकालिक में यह भी बताया है कि जो श्रमण अत्यन्त वृद्ध हो चुका है, अस्वस्थ है या जो तपस्वी है वह गृहस्थ के घर पर बैठ सकता है।[5] उसे गृह-निषद्या का दोष नहीं लगता।

आगम साहित्य में श्रमण के आहार की चर्चा करते हुए स्पष्ट विधान किया है कि वह आधाकर्मी आहार ग्रहण नहीं कर सकता। वह पिण्डैषणा के नियमों का सम्यक् प्रकार से पालन करे। आचार्य शीलांक[6] ने सूत्रकृतांगवृत्ति में लिखा है कि अपवाद स्थिति में शास्त्र के अनुसार आधाकर्म आहार का सेवन करता है तो वह साधक शुद्ध है। वह कर्म से लिप्त नहीं होता।

निशीथभाष्य में ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनमें यह बताया गया है कि दुर्भिक्ष आदि की स्थिति में अपवाद मार्ग से श्रमण आधाकर्म आदि आहार ग्रहण कर सकता है।[7]

---

१. व्यवहारसूत्र ९-११
२. बृहत्कल्पसूत्र, उ. ६ सूत्र ७-१२
३. निशीथचूर्णि भाष्य ३, प्रस्तावना–उपाध्याय अमरमुनिजी ।
४. दशवैकालिक ३-४-६, ८
५. तिण्हमन्नयरागस्स, निसिज्जा जस्स कप्पइ।
जराए अभिभूयस्स वाहिअस्स तवस्सिणे॥ –दशवैकालिक. ६-६०
६. सूत्रकृतांग २-५, ८-९
७. निशीथभाष्य गा. २६८४

जैन श्रमण के लिए यह विधान है कि वह चिकित्सा की इच्छा न करे।[1] रोग हो जाने पर उसे शान्त भाव से सहन करे। किन्तु जब देखा गया कि श्रमण रोग होने पर समाधिस्थ नहीं रह सकता तो उसकी चिकित्सा के सम्बन्ध में भी चिन्तन हुआ। श्रमण किस प्रकार वैद्यों के वहाँ पर जाये, किस प्रकार औषधि आदि ग्रहण करे, भयंकर कुष्ठ आदि रोग होने पर किस तरह उनका उपचार किया जाये आदि पर निर्युक्ति, चूर्णि और भाष्य में विस्तार से विवेचन है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि उन अपवादों का सेवन करने पर विरोधियों को टीका-टिप्पणी करने का अवसर न मिले, यदि विरोधी आलोचना-प्रत्यालोचना करेंगे तो उससे जिनधर्म की अवहेलना होगी। अतः उसे गुप्त[2] रखने का भी संकेत किया गया है।

अतिचार और अपवाद :

एक बात यहां समझनी चाहिए कि अतिचार और अपवाद में अन्तर है।[3] यद्यपि अतिचार और अपवाद में बाह्य दृष्टि से दोष सेवन एक सदृश प्रतीत होता है, पर अतिचार व अपवाद में बहुत अन्तर है। अतिचार में मोह का उदय होता है और मोह के उदय से या वासना से उत्प्रेरित होकर तथा कषायभाव के कारण उत्सर्ग मार्ग को छोड़कर जो संयमविरुद्ध प्रवृत्ति की जाती है वह अतिचार है और अतिचार से संयम दूषित होता है। अतः साधक को यह ज्ञात हो जाय कि मैंने दोष का सेवन किया है जो अयोग्य था, तो उसे यथाशीघ्र प्रायश्चित्त लेकर उस दोष की विशुद्धि करनी चाहिए। जो उस दोष की विशुद्धि नहीं करता है, वह श्रमण विराधक होता है।

अपवाद में दोष का सेवन होता है, पर वह सेवन विवशता के कारण होता है। सेवन करते समय साधक यह अच्छी तरह से जानता है कि यदि मैं अपवाद का सेवन नहीं करूँगा तो मेरे ज्ञान आदि गुण विकसित नहीं हो सकेंगे। उसी दृष्टि से वह अपवाद का सेवन करता है। अपवाद के सेवन करने में सद्गुणों का अर्जन और संरक्षण प्रमुख होता है। अपवाद में कषायभाव नहीं होता, किन्तु

---

१. (क) उत्तराध्ययन २-२३
   (ख) दशवैकालिक ३-४
   (ग) निशीथसूत्र ३-२८-४०; १३/४२-४५
२. निशीथचूर्णि गा. ३४५-४७
३. निशीथचूर्णि भा. ३ प्रस्तावना (उपाध्याय अमरमुनि)

संयमभाव प्रमुख होता है। इसलिए अपवाद अतिचार की तरह दूषण नहीं है। अतिचार में कषाय का प्राधान्य होने से अधिक कर्मबन्धन होता है।

उत्सर्ग और अपवाद में विवेक आवश्यक

उत्सर्ग मार्ग और अपवाद मार्ग दोनों ही मार्ग साधक के लिए तब तक श्रेयस्कर हैं जब तक उसमें विवेक की ज्योति जगमगाती हो। मूल आगम साहित्य में उत्सर्ग मार्ग की प्रधानता रही, अपवाद मार्ग का वर्णन आया किन्तु बहुत ही स्वल्प मात्रा में। लेकिन ज्यों-ज्यों परिस्थितियों में परिवर्तन होता गया त्यों-त्यों आचार्यों ने आगम साहित्य के व्याख्या-साहित्य में अपवादों का विस्तार से निरूपण किया है। अपवादों के निरूपण में कहीं पर अति भी हो गई है जो उस युग की स्थिति का प्रभाव है।

हमने बहुत ही संक्षेप में उत्सर्ग व अपवाद के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत किया है। उत्सर्ग और अपवाद के मर्म को समझना अत्यन्त कठिन है। जब उत्सर्ग और अपवाद में परिणामीपना और शुद्ध वृत्ति नष्ट हो जाती है तो वह अनाचार बन जाता है। एतदर्थ ही भाष्यकार ने परिणामी, अपरिणामी और अतिपरिणामी शिष्यों का निरूपण किया है। जो वस्तुस्थिति को सम्यक् प्रकार से समझता है वही साधक उत्सर्ग व अपवाद मार्ग की आराधना कर सकता है और अपने अनुयायी वर्ग को भी सही लक्ष्य पर बढ़ने के लिए उत्प्रेरित कर सकता है। जब परिणामी भाव नष्ट हो जाता है तो स्वार्थ की वृत्ति पनपने लगती है, स्वच्छन्दता बढ़ने लगती है, जिससे साधक वीतरागधर्म की आराधना सम्यक् प्रकार से नहीं कर सकता।

बृहत्कल्पभाष्य में आचार्य संघदासगणि ने लिखा है कि जितने उत्सर्ग के नियम हैं उतने ही अपवाद के भी नियम हैं। उत्सर्ग मार्ग के अधिकारी के लिए उत्सर्ग, उत्सर्ग है और अपवाद, अपवाद है; किन्तु अपवाद मार्ग के अधिकारी के लिए अपवाद उत्सर्ग है और उत्सर्ग अपवाद है। इस प्रकार उत्सर्ग और अपवाद अपनी-अपनी स्थिति और परिस्थिति के कारण श्रेयस्कर, कार्यसाधक और बलवान हैं।

उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का इतना समन्वयपरक सूक्ष्म दृष्टिकोण जैनदर्शन के अनेकान्त की अपनी विशेषता है। उत्सर्ग मार्ग जीवन की सबलता का प्रतीक है तो अपवाद मार्ग जीवन की निर्बलता का प्रतीक है। दोनों ही मार्गों में साधक को अत्यन्त जागरूकता रखनी चाहिए। आचार्यों ने स्पष्ट कहा है कि अपवाद मार्ग का सेवन करने वाला जैसे कोई फोड़ा पक गया है, उसमें रस्सी पड़ चुकी

है तो व्यक्ति किस तरह से कम कष्ट हो यह ध्यान रखकर दबाकर मवाद निकालता है और उसी तरह सावधानीपूर्वक अपवाद मार्ग का सेवन किया जाय। सेवन करते समय उसे यह ध्यान रखना होगा कि संयम और व्रत में कम से कम दोष लगे। विशेष परिस्थिति में और कोई मार्ग न हो तो अपवाद का सेवन किया जाय अन्यथा नहीं। एतदर्थ ही गीतार्थ का उल्लेख है और वही अपवाद का सेवन करने का अधिकारी माना गया है, शेष नहीं।

प्रायश्चित्त और दण्ड

छेदसूत्र प्रायश्चित्तसूत्र है। प्रायश्चित्त का अर्थ है पाप का विशोधन करना। पाप को शुद्ध करने की क्रिया का नाम प्रायश्चित्त है। अपराध 'प्रायः' कहलाता है और 'चित्त' का अर्थ शोधन है, जिस प्रक्रिया से अपराध की शुद्धि हो वह प्रायश्चित्त है। प्राकृत भाषा में प्रायश्चित्त के लिए "पायच्छित्त" शब्द आया है। 'पाय' का अर्थ 'पाप' है। जो पाप का छेदन करता है वह 'पायच्छित्त' है। साधक छद्मस्थ है, इसलिए ज्ञात और अज्ञात रूप में उससे भूल हो जाती है। पाप उसके जीवन में लग जाते हैं। भूल होना जितना बुरा नहीं है, उतना बुरा है भूल को भूल न समझना। भूल को भूल समझकर उसकी शुद्धि के लिए प्रयास करना और भविष्य में पुनः उस प्रकार का दोष न लगे, उसके लिए दृढ़संकल्प करना तथा भूल की शुद्धि के लिए जो प्रक्रिया है, वह प्रायश्चित्त है।

प्रायश्चित्त और दण्ड में अन्तर है। प्रायश्चित्त में साधक अपने दोष को अपनी इच्छा से प्रकट कर उसे स्वीकार करता है। प्रमादवश यदि दोष लग गया है तो वह साधक उस दोष को गुरुजनों के समक्ष प्रकट कर देता है और उनसे प्रायश्चित्त प्रदान करने के लिए प्रार्थना करता है। गुरुजन उस दोष से मुक्त होने के लिए विधि बताते हैं। इसके विपरीत व्यक्ति स्वयं दण्ड को अपनी इच्छा से नहीं किन्तु विवशता से स्वीकार करता है। उसके मन में दुष्कृत्य के प्रति किसी भी प्रकार की ग्लानि नहीं होती। अपराधी अपराध को स्वेच्छा से नहीं किन्तु दूसरों के भय से स्वीकार करता है। इस तरह दण्ड ऊपर से थोपा जाता है, किन्तु प्रायश्चित्त अन्तर्हृदय से स्वीकार किया जाता है। इसी कारण राजनीति में दण्ड का विधान है तो धर्मनीति में प्रायश्चित्त का विधान है।

जिसका अन्तर्मानस सरल हो, जो पापभीरु हो, जिसके हृदय में आत्म-शुद्धि की तीव्र भावना हो उसी के मन में प्रायश्चित्त लेने की भावना जागृत होती है। यदि मन में माया का साम्राज्य होगा तो प्रायश्चित्त से शुद्धिकरण नहीं हो सकता। भूलें अनेक प्रकार की होती हैं। कितनी ही भूलें सामान्य होती हैं और कितनी ही

असाधारण होती हैं। सामान्य भूलें भी देश-काल और परिस्थिति के कारण असामान्य हो जाती हैं। अतः सभी प्रकार की भूलों का प्रायश्चित्त एक-सा नहीं होता। भूलों और परिस्थितियों के अनुसार प्रायश्चित्त के भी विविध प्रकार बताये गए हैं।

स्थानांग, निशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार, जीतकल्प प्रभृति ग्रन्थों में विविध प्रकार के प्रायश्चित्तों का उल्लेख है। समवायांग आदि में प्रायश्चित्त के प्रकारों का उल्लेख है तो निशीथ आदि आगमों में प्रायश्चित्त योग्य अपराधों का भी विस्तार से निरूपण है। बृहत्कल्पभाष्य, निशीथभाष्य, व्यवहारभाष्य, निशीथचूर्णि, जीतकल्पभाष्य आदि में प्रायश्चित्त सम्बन्धी विविध सिद्धान्त और समस्याओं का सटीक विवेचन है। दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ मूलाचार, जयधवला तथा तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं में प्रायश्चित्त के विविध प्रकार प्रतिपादित हैं। सभी प्रकार के प्रायश्चित्तों का समावेश दस प्रकार के प्रायश्चित्तों में हो जाता है।[१]– (१) आलोचना (२) प्रतिक्रमण, (३) उभय, (४) विवेक, (५) व्युत्सर्ग, (६) तप, (७) छेद, (८) मूल, (९) अनवस्थाप्य और (१०) पारांचिक। मूलाचार में प्रथम आठ नाम ये ही हैं, किन्तु अनवस्थाप्य के स्थान पर परिहार और पारांचिक के स्थान पर श्रद्धान शब्द व्यवहृत हुआ है। तत्त्वार्थसूत्र में पारांचिक प्रायश्चित्त का उल्लेख नहीं है उसमें मूल नामक प्रायश्चित्त के स्थान पर उपस्थापन और अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के स्थान पर परिहार-प्रायश्चित्त का उल्लेख किया है। स्थानांग और जीतकल्प में जिन दस प्रायश्चित्तों का वर्णन है, वैसा ही वर्णन दिगम्बर ग्रन्थ जयधवला में भी है। प्रायश्चित्त का जो सर्वप्रथम रूप है उसमें साधक के अन्तर्मानस में अपराध के कारण आत्मग्लानि समुत्पन्न होती है। अपराध को अपराध के रूप में स्वीकार कर लेता है। वह विशुद्ध हृदय से अपने द्वारा किये गये अपराध व नियमभंग को आचार्य या गीतार्थ श्रमण के समक्ष निवेदन कर उस दोष से मुक्त होने के लिए प्रायश्चित्त स्वीकार करता है। आलोचना क्यों और कैसे करनी चाहिए और किनके समक्ष करनी चाहिए, स्थानांग आदि में विस्तार से निरूपण है। "जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप" ग्रन्थ में मैंने विस्तार से लिखा है, अतः विशेष जिज्ञासु उसका अवलोकन करें।

विशिष्ट दोषों की विशुद्धि के लिए तप प्रायश्चित्त का उल्लेख है। निशीथ, बृहत्कल्प, जीतकल्प और उनके भाष्यों में किस प्रकार का दोष सेवन करने पर

---

१. (क) स्थानांग १०/७३
(ख) जीतकल्प सूत्र ४
(ग) धवला १३/५, २३/६३/१

किस प्रकार का प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए, यह बताया गया है। प्रस्तुत आगम में तप प्रायश्चित्त के योग्य सविस्तृत सूची दी गई है, और तप प्रायश्चित्त के विविध प्रकारों की चर्चा करते हुए मास लघु, मास गुरु, चातुर्मास लघु, चातुर्मास गुरु से लेकर षट्मास लघु और षट्मास गुरु प्रायश्चित्तों का उल्लेख है। बृहत्कल्पभाष्य में मास, दिवस आदि तपों की संख्या के प्रायश्चित्तों का विवेचन मिलता है, वह इस प्रकार है–

यथागुरु–छह मास तक निरन्तर पांच-पांच उपवास

गुरुतर–चार मास तक निरन्तर चार-चार उपवास

गुरु–एक मास तक निरन्तर तीन-तीन उपवास (तेले)

लघु–१० बेले १० दिन पारणे (एक मास तक निरन्तर दो-दो उपवास)

लघुतर–२५ दिन तक निरन्तर एक दिन उपवास और एक दिन भोजन

यथालघु–२० दिन तक निरन्तर आयम्बिल (रूखा-सूखा भोजन)

लघुष्वक–१५ दिन तक निरन्तर एकासन (एक समय भोजन)

लघुष्वकतर–१० दिन तक निरन्तर दो पोरसी अर्थात् १२ बजे के बाद भोजन ग्रहण

यथालघुष्वक–पाँच दिन निरन्तर निर्विकृति (घी, दूध आदि रहित भोजन)

संक्षिप्त सारांश

प्रथम उद्देशक

प्रथम उद्देशक में ५८ सूत्र हैं। ४९७-८१५ गाथाओं तक का सविस्तृत भाष्य भी है। सर्वप्रथम भिक्षु के लिए हस्तकर्म का निषेध किया गया है। काष्ठ, अंगुली अथवा शलाका आदि से अंगादान के संचालन का निषेध है। अंगादान को तेल, घृत, नवनीत, प्रभृति से मर्दन करने, शीत या उष्ण जल से प्रक्षालन करने और ऊपर से त्वचा हटाकर उसे सूंघने आदि का निषेध किया गया है। इस निषेध के कारण पर चिन्तन करते हुए आचार्य संघदासगणि ने सिंह, आसीविष-सर्प, व्याघ्र और अजगर आदि के दृष्टान्त देकर यह बताने का प्रयास किया है कि जैसे प्रसुप्त सिंह जागृत होने पर जगाने वाले को ही समाप्त कर देता है, वैसे ही अंगादान आदि को संचालित करने से तीव्र मोह का उदय हो जाने पर वह साधक भी साधना से च्युत हो सकता है। शुक्र पुद्गल निकालना, सुगन्धित पदार्थों को सूंघना, मार्ग में कीचड़ आदि से बचने हेतु पत्थर आदि रखवाना,

ऊँचे स्थान पर चढ़ने के लिए सीढ़ी रखवाना, पानी को निकालने के लिए नाली आदि बनवाना, सूई आदि को तेज करवाना, कैंची, नखछेदक, कर्णशोधक आदि को साफ करना, निष्प्रयोजन इन वस्तुओं की याचना करना, अविधिपूर्वक सूई आदि की याचना करना, स्वयं के लिए लाई हुई वस्तु में से दूसरों को देना, वस्त्र सीने के लिए लाई हुई सूई आदि से कांटा निकालना। पात्रों को गृहस्थों से ठीक करवाना। वस्त्र पर गृहस्थों से कारी लगवाना। वस्त्र पर तीन से अधिक कारी लगवाना। निर्दोष आहार में सदोष आहार मिला हो, उसे ग्रहण करना। इस प्रकार प्रथम उद्देशक में साधक को सतत जागरूक रहने का सन्देश दिया है। प्रतिपल-प्रतिक्षण साधक को उस प्रकार की प्रवृत्ति करनी चाहिये जो विवेक से मण्डित हो। अविवेकयुक्त की गई छोटी-से-छोटी प्रवृत्ति भी कर्मबन्धन का कारण है। इसलिए सूई आदि नन्हीं-सी वस्तु भी अविधि से रखने का निषेध किया है। विवेक में ही धर्म है। यह इन उल्लेखों से स्पष्ट है।

यह सत्य है कि महाव्रतों की परिगणना में ब्रह्मचर्य का चतुर्थ स्थान है। पर वह अपनी महिमा और गरिमा के कारण सभी व्रतों में प्रथम है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है कि जैसे श्रमणों में तीर्थंकर श्रेष्ठ हैं वैसे व्रतों में ब्रह्मचर्य। एक ब्रह्मचर्य व्रत की जो आराधना कर लेता है वह समस्त नियमोपनियम की आराधना कर लेता है। जितने भी व्रत नियम हैं, उनका मूल आधार ब्रह्मचर्य है। वह व्रतों का सरताज है। मुकुटमणि है। अतः ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले साधक को हर क्षण जागरूक रहकर उस नियम का दृढ़ता से पालन करना बहुत ही आवश्यक है। प्रस्तुत आगम के प्रारम्भ में सर्वप्रथम यह सूचन किया गया है।

दूसरा उद्देशक

दूसरे उद्देशक में ५७ सूत्र हैं। किसी-किसी प्रति में ५९ सूत्र भी मिलते हैं। जिस पर ८१६ से १४३७ गाथाओं तक का भाष्य है। पादप्रोंछन के सम्बन्ध में प्रथम आठ सूत्रों में चिन्तन किया गया है। पुराना और फटे हुए कम्बल का एक हाथ लम्बा-चौड़ा खण्ड पादप्रोंछन कहा जाता है। विवेचनकार पण्डित मुनि श्री ने इस पर विस्तार से विवेचन लिखा है और उस विवेचन में उन्होंने स्पष्ट किया है कि पादप्रोंछन और रजोहरण ये दोनों पृथक-पृथक उपकरण हैं। रजोहरण से परिमार्जन होता है, और पादप्रोंछन से केवल पैर आदि पोंछे जाते हैं। दोनों के अर्थ और उपयोगिता भिन्न-भिन्न हैं। आवश्यकता होने पर पादप्रोंछन पर बैठा भी जा सकता है, पर रजोहरण आदि का उपयोग इस प्रकार नहीं होता। पादप्रोंछन

आवश्यकता होने पर स्वयं के पास न हो तो श्रमण दूसरे से ले सकता है। पर रजोहरण तो स्वयं का ही होता है। जिनकल्पी श्रमणों को भी रजोहरण रखना आवश्यक माना गया है। रजोहरण फलियों के समूह से बना हुआ एक औधिक उपकरण है जबकि पादप्रोंछन वस्त्र का एक टुकड़ा होता है। उसे कभी काष्ठदंड में बांध कर भी रखा जाता है। यह औपग्रहिक उपकरण है। उस काष्ठदंड युक्त पादप्रोंछन औपग्रहिक उपकरण की जिस क्षेत्र में और जितने समय के लिए आवश्यकता हो, उतने समय तक रख सकते हैं। आवश्यकता के अभाव में काष्ठदण्ड युक्त पादप्रोंछन को खोलकर रख लेना चाहिए। जो विधियुक्त बांधा गया हो वही पादप्रोंछन सुप्रतिलेख्य होता है। वह पादप्रोंछन डेढ़ मास तक अधिक से अधिक रख सकते हैं। यदि रखना अावश्यक हो तो खोलकर और परिवर्तन कर रख सकते हैं।

उसके पश्चात् इत्रादि सुगन्धित पदार्थों को सूंघने का निषेध है। पदमार्ग आदि बनाने का निषेध है। पानी निकालने की नाली, छींके का ढक्कन, चिलमिली आदि बनाने का निषेध है। श्रमण को कठोर भाषा का उपयोग नहीं करना चाहिए। कठोर भाषा के उपयोग से सुनने वाले के अन्तर्मानस में संक्लेश पैदा होता है। भाषा सत्य भी हो और सुन्दर भी हो। जिस भाषा के प्रयोग से दूसरों का हृदय व्यथित हो तो उस प्रकार की भाषा एक प्रकार से हिंसा है। अल्प-असत्य भाषा का प्रयोग भी श्रमण के लिए निषिद्ध है। अदत्तवस्तु ग्रहण करना भी निषिद्ध है। शरीर को सजाना व संवारना, बहुमूल्यवान श्रेष्ठतम वस्तुओं को धारण करना आदि निषिद्ध है। भिक्षुओं को चर्म रखने का निषेध है। तथापि भाष्यकार ने आपवादिक स्थिति में चर्म धारण करने का भी उल्लेख किया है–

मार्ग कण्टकाकीर्ण हो। सर्प, भयंकर सर्दी, रुग्ण अवस्था, अर्श की व्याधि से पीड़ित, सुकुमाल आदि हो या पैरों में घाव आदि हो तो विशेष परिस्थिति में चर्म उपकरणों का उपयोग किया जा सकता है। पर उत्सर्ग मार्ग में नहीं।

नित्य अग्र-पिण्ड, दान आदि का निषेध है। भिक्षा के पूर्व या बाद में दाता की प्रशंसा करना। भिक्षा के लिए समय से पूर्व गृहस्थों के घरों में जाना। अन्यतीर्थिक के साथ, गृहस्थ के साथ, पारिहारिक व अपारिहारिक के साथ भिक्षा के लिए जाना। इनके साथ स्वाध्याय भूमि और उच्चार-प्रस्रवण भूमि में प्रवेश करना। इन तीनों के साथ ग्रामानुग्राम विहार करना। मनोज्ञ आहार पानी का उपयोग करना, अमनोज्ञ को परठना, बचा हुआ आहार साम्भोगिक साधुओं को पूछे बिना ही परठना। सागारिक-पिण्ड ग्रहण करना व उसका उपयोग करना।

सागारिक के यहाँ–बिना घर जाने भिक्षा के लिए जाना। शय्या संस्तारक की अवधि का शेषकाल और वर्षाकाल में उल्लंघन करना। वर्षा से भीगते हुए शय्या संस्तारक को छाया में न रखना। दूसरी बार बिना आज्ञा लिये अन्यत्र ले जाना। प्रात्यहारिक शय्या संस्तारक को बिना लौटाये विहार करना। शय्या संस्तारक गुम हो जाने पर उसकी अन्वेषणा न करना। अल्प उपधि की भी प्रतिलेखना न करना। इस प्रकार दूसरे उद्देशक में विविध प्रवृत्तियों का लघुमासिक प्रायश्चित्त बतलाया है।

इस उद्देशक में जिन बातों का निषेध किया गया है उन बातों के निषेध का वर्णन बृहत्कल्प, आचारांग, दशवैकालिक, पिण्डनिर्युक्ति आदि में भी है। इन सब प्रायश्चित्त के योग्य स्थानों का लघुमास प्रायश्चित्त का निरूपण द्वितीय उद्देशक में हुआ है। विवेचन में इन सभी विषयों पर संक्षिप्त और सारगर्भित प्रकाश भी डाला है।

तृतीय उद्देशक

तृतीय उद्देशक में ८० सूत्र हैं। जिन पर १४३८-१५५४ तक भाष्य की गाथाएँ हैं। एक सूत्र से लेकर बारह सूत्र तक धर्मशाला, मुसाफिरखाना, आरामगार या गृहपति के कुल आदि में उच्च स्वर से आहार आदि मांगने का, गृहस्वामी के मना करने पर पुनः पुनः उसके घर आहारादि के लिए जाने का, सामूहिक भोज में जाकर अशन पान ग्रहण करने का, पैरों के परिमार्जन, परिमर्दन, प्रक्षालन आदि का व शरीर के परिमार्जन, परिमर्दन, संवाहन आदि का निषेध है। बढ़े हुए बाल, नाखून आदि काटने का, विहार करते हुए मस्तक ढकना, श्मशान भूमि में, खदान में, जहाँ कोयले आदि निर्मित होते हों उस स्थान में, फल संग्रह के स्थान में, सब्जी आदि रखने के स्थान में, उपवन, धूप न आने के स्थान में मलविसर्जन का निषेध है और इन प्रवृत्तियों को करने वाले साधक के लिए लघुमासिक प्रायश्चित्त का वर्णन है।

प्रस्तुत आगम के अतिरिक्त आवश्यकसूत्र, आचारांगसूत्र, प्रश्नव्याकरण आदि में भी अनेक कार्य श्रमणों के लिए अकरणीय हैं, ऐसा वर्णन प्राप्त होता है।

चतुर्थ उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक में १२८ सूत्र हैं। इन सूत्रों पर १५५५-१८९४ गाथाओं तक का भाष्य है। इस उद्देशक में राजा को, राजा के रक्षक को, नगररक्षक को, सर्वरक्षक को, ग्रामरक्षक को, राज्यरक्षक को, देशरक्षक को, सीमारक्षक को वश

में करना और वश में करने के लिए उनके गुणानुवाद करना। सचित्त धान्य आदि का आहार करना। आचार्य आदि की अनुमति के बिना दूध आदि विकृतियाँ ग्रहण करना। स्थापनाकुल जाने बिना भिक्षा के लिए जाना। अविधि से निर्ग्रन्थियों के उपाश्रय में प्रवेश करना। निर्ग्रन्थियों के आने के रास्ते में दण्ड आदि रख देना। नवीन कलह उत्पन्न करना। उपशान्त कलह को पुनः जागृत करना। ठहाका मारकर हंसना। पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त, नित्यक इन पांच प्रकार के श्रमणों को अपने सन्त को देना और लेना। अप्काय, पृथ्वीकाय प्रभृति सचित्त पदार्थों से लिप्त हाथों द्वारा आहार आदि लेना। शरीर परिकर्म करना। सन्ध्या के समय तीन बार उच्चार-प्रस्रवण भूमि का प्रतिलेखन न करना। संकीर्ण स्थान में मल-मूत्र का विसर्जन करना। मल-मूत्र के त्याग करने के पश्चात् उसका शुद्धिकरण न करना। प्रायश्चित्त वहन करने वाले के साथ भिक्षा के लिए जाना इत्यादि विषयों पर प्रायश्चित्त का चिन्तन किया गया है और यह कार्य करने के लिए निषेध किया गया है। उसके लिए मासिक उद्घातिक परिहारस्थान अर्थात् लघुमासिक (मास-लघु) प्रायश्चित्त का विधान है। श्रमण और श्रमणियों को अपनी साधना के प्रति तल्लीन रहना चाहिए। साधना को विस्मृत कर यदि साधक राजा आदि को वश में करने के लिए प्रयास करेगा तो साधना में बाधाएँ उपस्थित होंगी। राजा आदि जहाँ प्रसन्न होते हैं वहाँ वे शीघ्र ही नाराज भी हो जाते हैं। इसलिए प्रतिकूल होने पर उपसर्ग भी दे सकते हैं। अतः प्रस्तुत आगम में उन्हें प्रसन्न करने के लिए और आकर्षित करने के लिए निषेध किया गया है। साधक को अपनी मस्ती में ही रहकर साधना करनी चाहिए।

प्रस्तुत उद्देशक में साधक को विवेकयुक्त प्रवृत्ति करने का संकेत किया है। श्रामण्य जीवन का सार क्षमा है। क्रोध में विचारक्षमता और तर्कशक्ति प्रायः शिथिल हो जाती है। क्रोध मानसिक आवेश है। उस आवेश से शत्रुता जन्म लेती हैं और उससे अनुज्ञा ग्रहण करने का संकल्प होता है। कलह के मूल में कषाय है। अतः कलह करने का और पुराने कलह को पुनः जगाने का निषेध किया है। दियासलाई दूसरों को जलाने के पूर्व स्वयं जल जाती है। दूसरा जले या न जले पर वह स्वयं तो जलती ही है। वैसे ही कलह करने वाला स्वयं कर्मबन्धन करता ही है। कलह पाप है अतः उससे साधक को बचना चाहिए।

श्रमणों को अट्टहास करने का भी निषेध किया गया है। श्रमण का अनमोल समय स्वाध्याय और ध्यान में लगाने का है। हँसी-मजाक और अट्टहास से कई बार बात-बात में कलह हो जाता है। द्रौपदी के खिल-खिलाकर हंसने का परिणाम ही महाभारत का युद्ध है। इस प्रकार चतुर्थ उद्देशक में बताया है कि श्रमणों को

वे प्रवृत्तियाँ नहीं करनी चाहिए जिससे साधना का मार्ग धूमिल हो। मल-मूत्र का विसर्जन भी ऐसे स्थान पर नहीं करना चाहिए जहाँ पर जीवों की विराधना होने की सम्भावना हो। साथ ही लोकापवाद होने की सम्भावना हो।

पांचवाँ उद्देशक

पांचवें उद्देशक में ५२ सूत्र हैं। किन्हीं-किन्हीं प्रतियों में ७७ सूत्र भी प्राप्त होते हैं। जिन पर १८९५-२१९४ गाथाओं में सविस्तृत भाष्य है। सर्वप्रथम सचित्त वृक्ष के मूल के निकट बैठकर कायोत्सर्ग करना, बैठना, खड़ा रहना, शयन करना, आहार करना, लघुशंका करना, शौच आदि करना और स्वाध्याय आदि करने का निषेध है। अपनी चादर अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से सिलाने का, मर्यादा से अधिक लम्बी चादर रखने का भी निषेध है। पलास, नीम आदि के पत्तों को अचित्त पानी या शीत पानी से धोकर रखने का निषेध है। पादप्रोंछन, दण्ड, यष्टि, सूई, लौटाने योग्य वस्तुओं को नियत अवधि के भीतर लौटा देने का विधान है। सन, कपास आदि काटने का, सचित्त रंगीन और विविध रंगों से आकर्षक दण्ड बनाने और रखने का, मुख, दन्त, ओष्ठ, नासिका आदि को वीणा के समान बजाने का निषेध है। औद्देशिक उद्दिष्ट शय्या का उपयोग करने का, रजोहरण प्रमाण से अधिक बड़ा बनाना, फलियाँ सूक्ष्म बनाना, फलियों को आपस में सम्बद्ध करना। अविधि से बाँधकर रखना। अनावश्यक एक भी बन्धन कराना और आवश्यक भी तीन बन्धन से अधिक बन्धन करना। पाँच प्रकार के अतिरिक्त अन्य जाति के रजोहरण बनाना दूर रखना। पाँव आदि से दबाना, सिर के नीचे रखना इत्यादि सभी प्रवृत्तियों का लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है। अतः साधक को इन सब प्रवृत्तियों से बचना चाहिए।

छठा उद्देशक

छठे उद्देशक में ७८ सूत्र हैं। जिन पर २१९५-२२८६ गाथाओं तक का सविस्तृत भाष्य है। कुशीलसेवन की भावना से किसी भी स्त्री का अनुनय-विनय करना, हस्तकर्म करना, अंगादान संचालन तथा कलह आदि करना। चित्र-विचित्र वस्त्र रखना, धारण करना। पौष्टिक आहार करना आदि कार्य करने पर गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए साधक को सभी प्रवृत्तियों के लिए निषेध किया गया है। दिल में जब विकार भावनाएँ जागृत होती हैं तब कामेच्छा से व्यक्ति किस-किस प्रकार की प्रवृत्तियाँ करता है, उसका मनोवैज्ञानिक वर्णन प्रस्तुत अध्याय में किया गया है।

सातवां उद्देशक

सातवें उद्देशक मे ९२ सूत्र हैं। जिस पर २२८७-२३४० गाथाओं में भाष्य लिखा गया है। प्रस्तुत अध्याय में भी मैथुन सम्बन्धी निषेध बताया गया है। कामेच्छा के संकल्प से उत्प्रेरित होकर विविध प्रकार की मालाएँ, विविध प्रकार के कड़े, विविध प्रकार के आभूषण, विविध प्रकार के चर्मवस्त्र बनाना रखना और पहनना, कामेच्छा से स्त्री के अंगोपांग का संचालन करना, शरीर-परिकर्म करना, सचित्त पृथ्वी पर सोना बैठना, परस्पर चिकित्सा आदि करना। पशु-पक्षी के अंगोपांग को स्पर्श करने का निषेध किया गया है। इन प्रवृत्तियों को करने वालों को गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

छठे और सातवें दोनों उद्देशकों में कामेच्छा से किए गये कार्यों के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। इनमें कुछ बातें ऐसी भी हैं जो बिना कामेच्छा के भी करनी नहीं कल्पतीं, जैसे सचित्त भूमि आदि पर बैठना।

आठवां उद्देशक

आठवें उद्देशक में १८ सूत्र हैं। जिन पर २३४१-२४९५ गाथाओं तक भाष्य है। धर्मशाला, उद्यान, अट्टालिका, दगमार्ग, शून्यगृह, तृणगृह, पानशाला, दुकान, गोशाला में एकाकी श्रमण, एकाकी महिला के साथ रहे, आहार आदि करे, स्वाध्याय करे, शौचादि साथ जाये, विकारोत्पादक वार्तालाप करे। रात्रि के समय स्त्रीपरिषद् या स्त्री-पुरुषयुक्त परिषद् में अपरिमित कथा करे तथा श्रमणियों के साथ विहारादि करे। उपाश्रय में रात्रि के समय में महिलाओं को रहने देवे, मना न करे। उनके साथ बाहर आना-जाना करे आदि प्रवृत्तियों का निषेध है। स्त्री संसर्ग का निषेध दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि अन्य आगमों में भी यत्र-तत्र है। सर्वत्र साधक को यही प्रेरणा दी गई है कि वह महिलाओं से अधिक सम्पर्क न रखे। अधिक सम्पर्क से साधक च्युत हो सकता है।

प्रस्तुत अध्याय में मूर्द्धाभिषिक्त राजा के अनेक प्रकार के महोत्सवों में आहार ग्रहण करने का निषेध है। मूर्द्धाभिषिक्त राजा जब उत्तरशाला यानी मण्डप में रहता हो तब भी आहार ग्रहण करने का निषेध है। इसी प्रकार अश्वशाला, हस्तिशाला, मन्त्रणागृह, गुप्तविचारगृह आदि में रहे हुए राजा के आहार ग्रहण का निषेध है। पाँच सूत्रों में राजपिण्ड ग्रहण करने का निषेध किया है और ग्रहण करने पर गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर राजपिण्ड ग्रहण करने का निषेध है। जिसका राज्याभिषेक हुआ हो वह राजा कहलाता है। उसका भोजन राजपिण्ड है।[१] जिनदासगणि महत्तर के अभिमतानुसार सेनापति, अमात्य, पुरोहित, श्रेष्ठी और सार्थवाह सहित जो राजा राज्य का उपभोग करता है, उसका पिण्ड ग्रहण नहीं करना चाहिए। अन्य राजाओं के लिए नियम नहीं है। यदि दोष की संभावना है तो ग्रहण नहीं करना चाहिए और निर्दोष है तो ग्रहण किया जा सकता है।[२]

राजपिण्ड का तात्पर्य राजकीय भोजन से है। राजकीय भोजन सरस, मधुर व मादक होता है, जिसके सेवन से रसलोलुपता बढ़ने की सम्भावना रहती है। ऐसा सरस आहार सर्वत्र सुलभ नहीं होता। अतः रसलोलुप बनकर मुनि कहीं अनेषणीय आहार ग्रहण न करे इसीलिए राजपिण्ड का निषेध किया है। एषणाशुद्धि ही प्रस्तुत विधान की आत्मा है। यदि कोई इस विधान को विस्मृत करके राजपिण्ड को ग्रहण करता है या राजपिण्ड का उपयोग करता है तो श्रमण को चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आना है।[३] राजपिण्ड के निषेध के पीछे अन्य तथ्य भी रहे हुए है।[४] जिनका उल्लेख निशीथभाष्य और चूर्णि में किया गया है। राजभवन में प्रायः सेनापति आदि का आवागमन रहता है। कभी शीघ्रता आदि के कारण श्रमण के चोट लगने की और पात्रादि फूटने की भी सम्भावना रहती है।[५] वे अपशकुन भी समझ सकते हैं अतः राजपिण्ड को अनाचीर्ण माना है।[६]

भगवान् महावीर और ऋषभदेव के श्रमणों के लिए ही राजपिण्ड का निषेध है पर बावीस तीर्थंकरों के श्रमणों के लिए नहीं।[७] राजपिण्ड में चार प्रकार के

---

१. (क) दशवैकालिक अगस्त्यसिंहचूर्णि
   (ख) दशवैकालिक जिनदासचूर्णि ११२-१३
   (ग) कल्पदर्शनम् गा. ९ पृ. १
   (घ) कल्पसूत्र कल्पलता ४ पृ. २ समयसुन्दर
   (ङ) कल्पार्थबोधिनी ४ पृ. २
२ निशीथभाष्य गा. २४८७ चूर्णि
३. निशीथ ९।१।२
४. (क) कल्पार्थबोधिनी, कल्प ४, पृ. २
   (ख) कल्प समर्थन १०।१
५. निशीथभाष्य, गा. २५०३-२५१०
६. दशवैकालिक ३।३
७. (क) कल्पलता टीका
   (ख) कल्पद्रुमकलिका, पृ. २

आहार, वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण–ये आठ वस्तुएँ परिगणित की गई हैं और आठों ही अग्राह्य मानी हैं।[१]

नौवां उद्देशक

नौवें उद्देशक में २५ सूत्र हैं। जिन पर २४९६-२६०५ गाथाओं में भाष्य लिखा है। इस उद्देशक में भी राजपिण्ड ग्रहण करने का निषेध किया गया है। श्रमण को राजा के अन्तःपुर में प्रवेश नहीं करना चाहिए। भाष्यकार ने तीन अन्तःपुरों का उल्लेख किया है–जीर्ण अन्तःपुर, नवअन्तःपुर और कन्या-अन्तःपुर। अन्तःपुर में एक से एक सुन्दर स्त्रियाँ रहती थीं। राजा अन्तःपुर को अधिक से अधिक समृद्ध और सुन्दर बनाने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र ग्रन्थ में वृद्धा स्त्रियों और नपुंसकों को अन्तःपुर की रक्षा के लिए तैनात रखे, ऐसा विधान किया है। अन्तःपुर में सगे-सम्बन्धी या नौकर-चाकर के अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति प्रवेश नहीं करता था। राजा अन्तःपुर की सुरक्षा अत्यधिक सावधानी से करता था। श्रमण के अन्तःपुर में जाने से राजा के अन्तर्मानस में कुशंकाएँ उत्पन्न होना स्वाभाविक था, अतः श्रमण के लिए अन्तःपुर में जाने का निषेध किया गया है।

स्वयं श्रमण तो अन्तःपुर में प्रवेश न करे किन्तु अन्तःपुर के द्वार पर जो महिला नियुक्त की गई हो उससे भी आहारादि मंगवाना और ग्रहण करना निषिद्ध है। राजा के द्वारपाल, अन्य अनुचर, सैनिक, दास, दासी, घोड़ों व हाथी के निमित्त, अटवी के यात्रियों के लिए, दुर्भिक्ष और दुष्काल पीड़ित व्यक्तियों के लिए, गरीब व्यक्तियों के लिए, रोगियों के लिए, वर्षा से पीड़ित व्यक्तियों के लिए व मेहमानों के लिए जो भोजन राजकुलों में बनता है उसे भी लेने के लिए निषेध किया है और लेने पर गुरु चौमासी का प्रायश्चित्त बताया है। दण्डधर, दण्डरक्षक, दौवारिक, वर्षधर, कंचुकिपुरुष और महत्तर प्रभृति व्यक्ति अन्तःपुर की सुरक्षा के लिए नियुक्त रहते थे। राजा-रानी को देखने के लिए जाने का भी निषेध है। शिकार आदि के लिए गये हुये राजा का आहार ग्रहण न करें। जहाँ राजा भोजन करने गये हों वहाँ भिक्षा के लिए भी न जायें। राजा की सर्वालंकार विभूषित स्त्रियों के पाँव तक भी देखने का विचार नहीं करना चाहिए। राज्यसभा के विसर्जित होने के पूर्व आहार आदि के लिए गवेषणा नहीं करना चाहिए। राजा के निवास स्थान के पास स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। प्राचीन काल में चम्पा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ती, साकेत, कम्पिल, कोशाम्बी, मिथिला,

८. कल्पसमर्थन, गा. ११, पृ. २

हस्तिनापुर और राजगृह ये दस राजधानियाँ मानी जाती थीं। जहाँ पर सदैव राज्योत्सव होते रहते थे। इसलिए श्रमणों को बार-बार वहाँ जाने के लिए प्रस्तुत उद्देशक में निषेध किया गया है। निषेध की अवहेलना करने पर गुरुचातुर्मासी प्रायश्चित्त का विधान है। विस्तारभय से हम उन राजधानियों का परिचय यहाँ नहीं दे रहे हैं। अतीत काल में उनकी अवस्थिति कहाँ थी ? वर्तमान में उनकी अवस्थिति कहाँ है इस सम्बन्ध में विवेचना नहीं कर रहे हैं। प्रस्तुत उद्देशक में राजपिण्ड के अतिरिक्त राजा से सम्बन्धित अनेक प्रसंगों का भी प्रायश्चित्त बताया गया है। इसका मूल कारण यही है कि आज्ञा की अवहेलना के साथ ही अन्य अनेक हानियाँ भी हो सकती हैं।

दसवाँ उद्देशक

दसवें उद्देशक में ४१ सूत्र हैं। किन्हीं-किन्हीं प्रतियों में ४७ सूत्र भी मिलते हैं। जिन पर २६०६-३२७५ गाथाओं का भाष्य है। आचार्य श्रमण संघ का अनुशास्ता है। अनन्त आस्था का केन्द्र है। तीर्थंकर के अभाव में आचार्य ही तीर्थ का संचालन करता है। अतः उसके प्रति अत्यधिक बहुमान रखना प्रत्येक साधक का परम कर्त्तव्य है। आचार्य के प्रति बहुमानयुक्त शब्दों का ही प्रयोग होना चाहिए। जो भिक्षु आचार्य आदि को रोषयुक्त वचन बोलता है, स्नेहरहित रूक्ष वचन बोलता है, आशातना करता है, उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है। दशाश्रुतस्कन्ध में ३३ आशातनाओं का निर्देश किया गया है। भाष्य में आशातनाओं के अपवाद का भी उल्लेख है। जो द्रव्य क्षेत्र काल भाव विवेक पर आधारित है। अपवाद में जैसे मार्ग में अत्यधिक काँटे बिछे हुए हों, उन काँटों को अलग-थलग करने के लिए शिष्य गुरु से भी आगे चलता है तो आशातना नहीं है।

प्रस्तुत उद्देशक में अनन्तकाय संयुक्त आहार ग्रहण करने का निषेध किया गया है। आधाकर्मी आहार भी निषेध किया गया है। आधाकर्म उपधि का भी निषेध है। श्रमणों को लाभालाभ निमित्त नहीं बताना चाहिए। किसी भी निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी को बहकाना भी नहीं चाहिए और न उनका अपहरण करना चाहिए। न दीक्षार्थी, गृहस्थ, गृहस्थिनी को बहकाना चाहिए। बाहर से आने वाले श्रमण को आने का कारण जानने के पश्चात् ही आश्रय दें। क्योंकि कहीं से वह लड़ाई-झगड़ा आदि करके तो नहीं आया है, कलह को उपशान्त न करने वाले या प्रायश्चित्त न करने वाले के साथ आहार न करें। उनके साथ आहार करने पर तथा प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में विपरीत प्ररूपणा करने पर, सूर्योदय या सूर्यास्त

की संदिग्ध स्थिति में भी आहार करने पर, रात्रि के समय मुख में आये हुए उद्गल को निगल जाने पर, ग्लान की विधिपूर्वक सेवा न करने पर, वर्षावास में विहार करने पर, निश्चित दिन पर्युषण न करने पर, अनिश्चित दिन पर्युषण करने पर, पर्युषण के दिन चौविहार उपवास न करने पर, लोच न करने पर, वर्षावास में वस्त्र ग्रहण करने पर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान है। दशाश्रुतस्कन्ध[१], उत्तराध्ययन,[२] दशवैकालिक[३] और अन्य आगमों में भी आशातना करने का निषेध किया गया है। आचारांग[४] के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में अनन्तकाययुक्त आहार आ जाय तो उसे 'परिस्थापन कर दिया जाय' ऐसा कथन है।

आगम साहित्य में आचारांग[५] सूत्रकृतांग[६] आदि में अनेक स्थानों पर आधाकर्म दोषयुक्त आहार श्रमण ग्रहण न करे, ऐसा विधान है। निमित्त कथन भी इसीलिए वर्ज्य है कि उसमें असत्य दोष लगने की सम्भावना रहती है। महावीर के शासन की अनेक विशेषताओं में ये दो मुख्य विशेषताएँ हैं। रात्रिभोजनविरति पर उन्होंने अत्यधिक बल दिया और ब्रह्मचर्य की साधना पर भी उनका अत्यधिक बल था।

वैदिक परम्परा में वानप्रस्थाश्रम आदि में पत्नियाँ साथ रहती थीं पर महावीर ने पूर्ण निषेध किया था। इसका मूल अहिंसा की उदात्त साधना में रहा हुआ है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी रात्रिभोजन से होने वाली हानियों का उल्लेख किया है। हमने विस्तार के साथ जैन आचार सिद्धान्त स्वरूप और विश्लेषण ग्रन्थ में प्रकाश डाला है।[७] बृहत्कल्प में वर्षावास में विहार करने का और वस्त्र ग्रहण करने का निषेध किया है। ग्लान श्रमणों की सेवा पर विशेष बल दिया गया है और न करने पर प्रायश्चित्त का विधान है। पर्युषण महापर्व के सम्बन्ध में भी विशेष विधान और प्रायश्चित्त प्रस्तुत उद्देशक में किये गये हैं। इन सबके लिए चौमासी प्रायश्चित्त का उल्लेख किया गया है।

---

१. दशाश्रुतस्कन्ध दशा १ व ३
२. उत्तराध्ययन अ. १ व ७
३. दशवैकालिक अध्ययन ९
४. आचारांग २, १।१
५. आचारांग २।१।९
६. सूत्रकृतांग १।१०।८-१७
७. जैन आचार : सिद्धान्त,स्वरूप और विश्लेषण, पृ. ८६६

ग्यारहवां उद्देशक

ग्यारहवें उद्देशक में ९१ सूत्र हैं। जिन पर ३२७६-३९७५ गाथाओं का भाष्य है। प्रस्तुत उद्देशक में लोहे, तांबे, शीशे, सींग, चर्म, वस्त्र प्रभृति के पात्र रखने, उसमें आहार करने का निषेध है। धर्म की निन्दा और अधर्म की प्रशंसा करने का निषेध है। गृहस्थ के शरीर का परिकर्म करना। स्वयं को या अन्य को डराना, स्वयं या अन्य को विस्मृत करना, स्वयं को या अन्य को विपरीत दिखाना। जो व्यक्ति सामने है उसके धर्म प्रमुख के सिद्धान्तों की आचारादि की मिथ्या प्रशंसा करना। दो विरोधी राज्यों के मध्य पुनः-पुनः गमनागमन करना। दिवस-भोजन की निन्दा, रात्रिभोजन की प्रशंसा। मद्य-मांस आदि के ग्रहण का निषेध। स्वच्छन्दाचारी की प्रशंसा करने का निषेध। अयोग्य व्यक्तियों को दीक्षा देने का निषेध। अयोग्य से सेवा कराने का निषेध। अचेल या सचेल साधु का अचेल या सचेल साध्वियों के साथ रहना निषिद्ध है। चूर्ण, नमक आदि को रात्रि में रखना, आत्मघात करने वालों की प्रशंसा करना आदि दोषों के सेवन करने वालों को गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है। प्रस्तुत उद्देशक में जिन-जिन विषयों की चर्चाएँ हुई हैं, अन्य आगमों में उनका निर्देश है। विवेचक मुनिप्रवर ने अपने विवेचन में यत्र-तत्र उन स्थलों का निर्देश किया है। विस्तारभय से उन सभी विषयों पर हम जानकर नहीं लिख रहे हैं।

बारहवां उद्देशक

बारहवें उद्देशक में ४४ सूत्र हैं और ३९७६-४२२५ गाथाओं में भाष्य लिखकर उन-उन सूत्रों पर विस्तार से विवेचन किया गया है। पहले सूत्र में करुणा से उद्प्रेरित होकर श्रमण न त्रस जीवों को रस्सी से बांधे और न बन्धनमुक्त करे। यह सहज जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि अनुकम्पा, करुणा यह सम्यक्त्व का लक्षण है फिर इसका निषेध क्यों? उसका मूल कारण है कि उसे निस्पृहभाव से संयमसाधना करनी है। यदि वह संयम साधना को विस्मृत कर इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ करेगा तो उसकी साधना में विघ्न आयेंगे। यहाँ पर करुणाभाव या अनुकम्पाभाव का प्रायश्चित्त नहीं है अपितु गृहस्थों की सेवा और संयम विरुद्ध प्रवृत्ति का प्रायश्चित्त है।

जो श्रमण पुनः पुनः प्रत्याख्यान भंग करता है और करने वाले का अनुमोदन करता है उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। भाष्य में प्रत्याख्यान भंग करने से अनेक दोष पैदा होते हैं। लोम युक्त चर्म रखने का निषेध है। गृहस्थ के वस्त्राच्छादित तृणपीठ आदि पर बैठने का निषेध है। साध्वी का चादर

अन्यतीर्थिक या किसी गृहस्थ से सिलवाने का निषेध है। पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावरों के जीवों की किञ्चित् भी विराधना करने का निषेध है। सचित्त वृक्ष पर चढ़ने का निषेध है। गृहस्थ के पात्र में भोजन करने का निषेध है। गृहस्थ का वस्त्र पहनना और उसकी शैय्या पर सोने का निषेध है। वापी, सर, निर्झर, पुष्करिणी आदि का सौन्दर्यस्थल निरीक्षण करने का निषेध है। सुन्दर ग्राम, नगर, पट्टन आदि को देखने की अभिलाषा रखने का निषेध है। अश्वयुद्ध, हस्तियुद्ध आदि में सम्मिलित होने का निषेध है। काष्ठकर्म, चित्रकर्म, लेपकर्म, दन्तकर्म आदि देखने का निषेध है। प्रथम प्रहर में ग्रहण किया हुआ आहार-पानी का उपयोग चतुर्थ प्रहर में करने का निषेध है। दो कोस के आगे आहार-पानी ले जाने का निषेध है। गोबर या अन्य लेप्य पदार्थ रात्रि में लगाना या रात्रि में रखकर दिन में लगाने का निषेध है। गंगा, यमुना, सरयू, ऐरावती और मही नाम की बड़ी नदियों को महीने में दो या तीन बार पार करने का निषेध है। इन निषेध प्रवृत्तियों को करने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त का उल्लेख है।

प्रस्तुत उद्देशक में जिन बातों का निषेध किया गया है उनका निषेध दशाश्रुतस्कन्ध आचारांग बृहत्कल्प दशवैकालिक सूत्रकृतांग प्रभृति आगमों में मिलता है। साधक को इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ नहीं करनी चाहिए जो उसकी साधना को धूमिल करने वाली हों।

तेरहवां उद्देशक

तेरहवें उद्देशक में ७८ सूत्र हैं। जिन पर ४२२६-४४७२ गाथाओं का विस्तृत भाष्य है। सचित्त, सस्निग्ध, सरजस्क आदि पृथ्वी पर सोने, बैठने व स्वाध्याय करने का, देहली, स्नानपीठ, भित्ति, शिला आदि पर बैठने का, अन्यतीर्थिक या गृहस्थ आदि को शिल्प आदि सिखाने का, कौतुककर्म, भूतिकर्म, प्रश्न, प्रश्नादि प्रश्न, निमित्त, लक्षण आदि के प्रयोग करने का, गृहस्थ को मार्गभ्रष्ट होने पर रास्ता बताने का, धातुविद्या या निधि बताने का, पानी से भरे हुए पात्र, दर्पण, मणि, तेल, मधु, घृत आदि में मुँह देखने का, वमन, विरेचन तथा बल आदि के लिए व बुद्धि के लिए औषध आदि सेवन का, पार्श्वस्थ आदि शिथिलाचारियों को वन्दन करने का तथा उत्पादन के दोषों का सेवन कर आहार ग्रहण करने का निषेध है, इत्यादि प्रवृत्तियाँ करने वाले साधक को लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

तेरहवें उद्देशक में जिन-जिन निषेधों की चर्चा की है उनमें से कुछ बातों पर आचारांग, सूत्रकृतांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि में भी निषेध है।

पिण्डनिर्युक्ति में उत्पादन दोष आदि पर विस्तार से विवेचन है। सारांश यही है कि साधक प्रतिपल प्रतिक्षण जागरूक रहे। दोषयुक्त कोई भी प्रवृत्ति न करे।

चौदहवां उद्देशक

चौदहवें उद्देशक में ४१ सूत्र हैं। किन्हीं-किन्हीं प्रतियों में ४५ सूत्र भी मिलते हैं। जिन पर ४४७३-४६८९ गाथाओं का विस्तृत भाष्य है। यहाँ पर पात्र को खरीदने, उधार लेने, पात्र परिवर्तन करने, छीन करके पात्र लेना। पात्र के हिस्सेदार की आज्ञा लिये बिना पात्र लेना। सामने लाया हुआ पात्र लेना। आचार्य की आज्ञा लिये बिना किसी अन्य को अतिरिक्त पात्र देना। अविकलांग या समर्थ को अतिरिक्त पात्र देना। विकलांग व असमर्थ को अतिरिक्त पात्र न देना। उपयोग में आने योग्य पात्र को न रखना और उपयोग में न आने योग्य पात्र को रखना। नवीन सुरभिगन्ध या दुरभिगन्ध युक्त पात्र को विशेष चित्ताकर्षक बनाने का, गृहस्थ से पात्र ग्रहण करते समय उस पात्र में से त्रस जीव, बीज, कन्दमूल, पुष्प, पत्र आदि निकालकर लेने का, परिषद् से निकलकर पात्र की याचना करने का तथा पात्र के लिए मासकल्प और चातुर्मास रहने का निषेध है, इत्यादि प्रवृत्तियाँ करने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त का विधान है।

प्रस्तुत उद्देशक में विस्तार के साथ पात्र के सम्बन्ध में विविध दृष्टियों से चिन्तन किया गया है। आचाराङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में श्रमणों को क्रीत, प्रामृत्य, आच्छेद्य, अनिशृष्ट और अभिहृत पात्र लेने का निषेध किया गया है और यह भी सूचन किया गया है जो पात्र उपयोग में आवे उसे श्रमण ग्रहण करे और पात्रों को रंग-विरंगे नहीं बनावे तथा ऐसे स्थान पर भी पात्रों को नहीं सुखाना चाहिए जहाँ पर पात्र के गिरने की सम्भावना हो।

पन्द्रहवां उद्देशक

पन्द्रहवें उद्देशक में १५४ सूत्र हैं। जिन पर ४६९०-५०९४ का विस्तृत भाष्य है। प्रथम चार सूत्रों में सामान्य श्रमणों की आसातना करने का और आठ सूत्रों में सचित्त आम्र, आम्रपेशी, आम्रचोयक आदि खाने का लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त बताया है। उसके पश्चात् गृहस्थ से परिकर्म करवाने का, अकल्पनीय स्थानों में मल-मूत्र परठने का और पार्श्वस्थ आदि को आहार, वस्त्र आदि देने और उनसे लेने का निषेध किया गया है। विभूषा की दृष्टि से शरीर का परिकर्म करना, वस्त्र आदि का परिमार्जन प्रक्षालन करना निषिद्ध है। ये प्रवृत्तियाँ करने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त बतलाया गया है।

प्रस्तुत उद्देशक में जिन-जिन बातों की चर्चा है, उनकी चर्चा आचाराङ्ग द्वितीय श्रुतस्कन्ध में भी आई है। वहाँ पर भी सचित्त आम आदि फलों को खाने का निषेध किया गया है। गृहस्थ से शरीर परिकर्म करवाने का निषेध किया गया है और अकल्पनीय स्थानों पर मल-मूत्र विसर्जन का भी निषेध किया गया है। उत्तराध्ययन व दशवैकालिक में विभूषा की दृष्टि से प्रवृत्ति करने का निषेध किया गया है। विभूषावृत्ति को तालपुटविष से उपमित किया गया है।

सोलहवां उद्देशक

सोलहवें उद्देशक में ५० सूत्र हैं। जिन पर ५०९५-५९०३ गाथाओं का विस्तृत भाष्य है। भिक्षु को सागारिक आदि की शैय्या में प्रवेश करने का, सचित्त ईख, गण्डेरी आदि खाना या चूसने का, अरण्य में रहने वाले, वन में जाने वाले, अटवी की यात्रा करने वालों का अशन-पान लेने, असंयमी को संयमी, संयमी को असंयमी कहने का तथा कलह करने वाले तीर्थिकों के अशन-पान आदि ग्रहण करने का निषेध किया गया है। भाष्यकार ने सप्तनिह्नवों का वर्णन किया है। क्रोध में आकर जो अपने ही दाँतों से दूसरों को काट लेते हों ऐसे दस्यु, अनार्य, म्लेच्छ और प्रत्यन्त देशवासियों के जनपदों में विहार करने का निषेध किया है। ये देश अनार्य देश थे। मगध, कोशाम्बी, थूणा, कुणाला आदि पच्चीस देशों को आर्य देश माना गया है। जुगुप्सित कुलों से अशन, पान, वस्त्र, कम्बल आदि ग्रहण करने का और वहाँ पर स्वाध्याय आदि करने का भी निषेध है। अन्यतीर्थिक या गृहस्थों के साथ भोजन ग्रहण करने का निषेध है। आचार्य, उपाध्याय आदि के आसन पर पैर लग जाने पर विनय किये बिना चले जाना। प्रमाण और आगमोक्त परिमाण से अधिक उपधि रखने का निषेध किया गया है। सचित्त भूमि पर और अन्य विराधना वाले स्थानों पर मल-मूत्र विसर्जन करने का निषेध है।

सोलहवें उद्देशक में जिन-जिन बातों की चर्चा की गई है और जिन-जिन कार्यों का निषेध किया गया है, उनकी चर्चा आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और दशाश्रुतस्कन्ध में भी है। आगम-साहित्य में यत्र-तत्र साधक को सावधान किया गया है कि वह इस प्रकार की प्रवृत्ति न करे जो संयमी जीवन को विकृत बनाये।

सत्रहवां उद्देशक

सत्रहवें उद्देशक में १५५ सूत्र हैं। किन्हीं-किन्हीं प्रतियों में १५१ सूत्र मिलते हैं। जिन पर ५९०४-५९९६ गाथाओं का भाष्य है। कुतूहल से त्रस प्राणियों को

रस्सी आदि से बांधने और खोलने का निषेध है। कुतूहल से अनेक प्रकार की मालाएँ, विविध प्रकार की मालाएँ, कड़े, आभूषण बनाने व रखने का निषेध है। विविध प्रकार के वस्त्रों का भी इसमें उल्लेख हुआ है। श्रमण को कुतूहलवृत्ति से रहित गम्भीर स्वभाव वाला होना चाहिए। कुतूहलवृत्ति से लोकापवाद भी होता है। श्रमण और श्रमणियों का गृहस्थों के द्वारा परिकर्म करवाने का, बन्द बर्तन आदि खुलवाकर आहार लेने का, सचित्त पृथ्वी पर रखे हुए आहार को लेने का, तत्काल बने हुए अचित्त शीतल जल लेने का और आचार्य पद योग्य मेरे शारीरिक लक्षण हैं, इस प्रकार कहने का निषेध किया गया है। विविध वाद्य बजाना, हंसना, नृत्य करना, पशुओं की तरह आवाज निकालना, विविध प्रकार के वाद्यों को सुनने के लिए ललकना, शब्दश्रवण के प्रति आसक्ति रखना इसके लिए प्रस्तुत उद्देशक में लघुचौमासी प्रायश्चित्त का उल्लेख है।

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में इस प्रकार की संयमसाधना-विरुद्ध प्रवृत्ति करने का निषेध है। प्रत्येक अध्याय में इसी बात पर बल दिया गया है। सर्वत्र संयमी साधक के लिए बहुत ही निष्ठा के साथ नियमोपनियम के पालन पर बल दिया गया है।

अठारहवां उद्देशक

अठारहवें उद्देशक में ७३ सूत्र हैं। किन्हीं-किन्हीं प्रति में ७४ सूत्र भी हैं। जिन पर ५९९७-६०२७ गाथाओं का भाष्य है। एक से लेकर बत्तीस सूत्र तक नौकाविहार के सम्बन्ध में विविध दृष्टियों से चिन्तन किया गया है। यों तो श्रमण अप्काय के जीवों की विराधना का पूर्ण रूप से त्यागी होता है फिर वह नौकाविहार कैसे कर सकता है? पर आचारांगसूत्र, बृहत्कल्प और दशाश्रुतस्कन्ध में अपवाद रूप से नौकाविहार करने का भी विधान है। पर यह स्मरण रखना होगा कि वह नौका विहार परिमित जलमार्ग के लिए ही है। आगम में बताये हुए या आगमों में निर्दिष्ट कारणों से ही वह उसका उपयोग करता है। प्रस्तुत ग्रन्थ के विवेचन में विवेचनकार ने उस पर विस्तार से चर्चा की है। आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध में भी नौकाविहार के विधि-निषेध हैं। सूत्र ३३ से ७३ तक वस्त्र सम्बन्धी दोषों के सेवन का उल्लेख है। इत्यादि प्रवृत्तियों का लघुचौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है। नौका और वस्त्र इन दो के सम्बन्ध में ही प्रस्तुत उद्देशक के चर्चा है।

उन्नीसवां उद्देशक

उन्नीसवें उद्देशक में ३५ सूत्र हैं। किन्हीं-किन्हीं प्रतियों में ४० सूत्र भी मिलते हैं। जिन पर ६०२८-६२७१ गाथाओं का भाष्य है। औषध के लिए क्रीत आदि दोष लगाना, विशिष्ट औषध की तीन मात्रा से अधिक लाना, उसे विहार में साथ रखना, औषध के परिकर्म सम्बन्धी दोषों का सेवन करना, पूर्व सन्ध्या, पश्चिम सन्ध्या, अपराह्न, मध्याह्न का समय और अर्धरात्रि के संयम, चार महामहोत्सव और उसके पश्चात् चार प्रतिपदा के दिन स्वाध्याय करने का निषेध है। कालिकसूत्र का चार प्रहरों में स्वाध्याय करने का वर्णन है। बत्तीस प्रकार के अस्वाध्याय के समय स्वाध्याय करना। शारीरिक अस्वाध्याय के समय स्वाध्याय करना। आगमोक्त क्रम से सूत्रों की वाचना न देना, आचारांग आदि की वाचना पूर्ण किये बिना ही निशीथ आदि छेदसूत्रो की वाचना प्रारम्भ करना, अपात्र को वाचना देना, पात्र को वाचना नहीं देना, समान योग्य व्यक्तियों को वाचना देने में पक्षपात करना, आचार्य, उपाध्याय द्वारा वाचना लिए बिना ही स्वयं वाचना ग्रहण करना, अन्य मिथ्यात्वियों को अन्य तीर्थियों को पार्श्वस्थादि को वाचना देने आदि का निषेध किया गया है।

प्रस्तुत उद्देशक के प्रथम सात सूत्रों में औषध आदि के सम्बन्ध में बताया है। उसके पश्चात् आठवें सूत्र से पैंतीसवें सूत्र तक स्वाध्याय अध्ययन और अध्यापन के सम्बन्ध में वर्णन है। स्थानांग, आवश्यकसूत्र, व्यवहारसूत्र और बृहत्कल्प में भी इन बातों के सम्बन्ध में विविध स्थानों पर प्रकाश डाला गया है। अदत्त वाचना का इसमें स्पष्ट रूप से निषेध किया गया है। इस प्रकार उन्नीसवें उद्देशक में केवल दो ही विषयों की चर्चा है।

बीसवां उद्देशक

बीसवें उद्देशक में ५१ सूत्र हैं। जिन पर ६२७२-६७०३ गाथाओं में भाष्य है। कपटयुक्त और निष्कपट आलोचना के लिए विविध प्रकार के प्रायश्चित्तों का विधान है। जो साधक निष्कपट आलोचना करता है उस साधक को जितना प्रायश्चित्त आता है उससे कपटयुक्त आलोचना करने वाले को एक मास अधिक प्रायश्चित्त आता है। भगवान् महावीर के शासन में उत्कृष्ट छह मास के प्रायश्चित्त का ही विधान है। इन सूत्रों में प्रथम बीस सूत्र व्यवहारसूत्र से मिलते-जुलते हैं। इसमें विविध भंग बताकर प्रायश्चित्त का निरूपण किया है। प्रायश्चित्त स्थानों की आलोचना प्रायश्चित्त देने पर और उसके वहन काल में सानुग्रह निरनुग्रह स्थापित और प्रस्थापित का स्पष्ट निरूपण किया गया है।

यह स्मरण रखना होगा कि निशीथ निर्युक्ति और भाष्य के अनुसार निशीथ की सूत्र संख्या २०२२ है। पर प्रस्तुत संस्करण में सम्पूर्ण सूत्र संख्या १४०१ है। निशीथसूत्र की जितनी भी प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं उनमें सूत्र संख्या एक सदृश नहीं है। ६२१ सूत्रों का निर्युक्ति और भाष्य की प्रति में जो अन्तर है, वह शोधार्थियों के लिए अन्वेषणीय है।

अपराध व प्रायश्चित्त विधान–बौद्धदृष्टि से

श्रमणसंस्कृति की दो धाराएँ हैं–एक जैनसंस्कृति और दूसरी बौद्धसंस्कृति। हम उपर्युक्त पंक्तियों में यह बता चुके हैं कि जैन साधनापद्धति में स्खलनाएँ होने पर उस स्खलना से मुक्त होने के लिए निशीथ आदि छेदसूत्रों में प्रायश्चित्त आदि का निरूपण है। सर्वप्रथम जिन स्खलनाओं की सम्भावना है उनकी एक लम्बी सूची दी गई है और फिर उन स्खलनाओं की शुद्धि हेतु प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। जैन परम्परा में जो स्थान निशीथ का है वैसा ही स्थान बौद्धपरम्परा में विनयपिटक का है। विनयपिटक में बौद्ध भिक्षुसंघ का संविधान दिया गया है। भिक्षुजीवन में आचार का गौरवपूर्ण स्थान है। तथागत बुद्ध ने समय-समय पर भिक्षु और भिक्षुणियों के पालन योग्य नियमों का उपदेश दिया। प्रस्तुत सन्दर्भ में अपराधों, दोषों और प्रायश्चित्तों का भी वर्णन है। समाज और जीवन का दिग्दर्शन करने हेतु प्रस्तुत ग्रन्थ का अपना महत्व है। विनयपिटक में विनयवस्तु की दृष्टि से वह तीन विभागों में विभक्त है–(१) सुत्तविभंग, (२) खन्धक, (३) प्रावारिक।

सुत्तविभंग में दोषों का निरूपण है। उन नियमों के उल्लंघन का भी उल्लेख है जिन्हें भिक्षु प्रत्येक महीने की अमावस्या और पूर्णिमा के दिन स्मरण करता था। इसे दूसरे शब्द में प्रातिमोक्ष भी कहा जाता है। भिक्षु और भिक्षुणी की दृष्टि से प्रातिमोक्ष के दो विभाग हैं। इनमें भिक्षु और भिक्षुणी के द्वारा नियमोल्लंघन का वर्णन है। जब प्रातिमोक्ष का पाठ प्रारम्भ होता है तब उनमें जिन-जिन अपराधों का वर्णन आता है, उन अपराधों में से सभा में उपस्थित भिक्षु और भिक्षुणी ने जो-जो अपराध किये हैं, वे भिक्षु और भिक्षुणी अपने स्थान से खड़े होकर उन अपराधों को स्वीकार करते हैं। अपराध स्वीकार करने के पीछे यही उद्देश्य रहा हुआ है कि भविष्य में वह पुनः इस प्रकार के अपराध की पुनरावृत्ति नहीं करेगा। मज्झिमनिकाय में तथागत बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि प्रातिमोक्ष

कुशलधर्मों का आदि है अर्थात् मुख है।[1] प्रातिमोक्ष शब्द पर टीका करते हुए एक आचार्य ने लिखा है कि जो उस प्रातिमोक्ष की रक्षा करता है, उसके नियमों का परिपालन करता है, वह (प्रातिमोक्ष) उसे अपाय असद्गति आदि दुःखों से मुक्त करता है अतः वह प्रातिमोक्ष है।

खन्धक भी दो भागों में विभक्त है? एक महावग्ग और दूसरा चुल्लवग्ग। भिक्षु का संघीय जीवन किस प्रकार का होना चाहिए, उसे किन-किन नियमों का पालन करना चाहिए, यह महावग्ग में वर्णित है। सुत्तविभंग में मुख्य रूप से निषेधात्मक शैली है तो महावग्ग में विधेयात्मक शैली है। उपसम्पदा, वर्षावास, प्रातिमोक्ष (पाति-मोक्खं), प्रवारणा, चीवर रंगना आदि विधि क्रम और नियमों का विस्तार से वर्णन है।

चुल्लवग्ग में दैनन्दिन अर्थात् प्रतिदिन क्या करने योग्य है ? क्या करने योग्य नहीं है ? किस प्रकार चलना, किस प्रकार बोलना आदि का विवेचन है। इसके अतिरिक्त बौद्ध इतिहास की अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं का भी संकलन है।

प्रारम्भ में विनयपिटक में वर्णित विषयों की अनुक्रमणिका दी गई है।

तथागत बुद्ध ने अपने प्रधान शिष्य आनन्द को कहा था कि छोटी-छोटी गलतियों को क्षमा कर दिया जाय पर आनन्द बुद्ध से यह पूछना भूल गये कि छोटी-छोटी गलतियाँ कौन-सी हैं ? तथागत बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् संघ विच्छिन्न न हो जाय, धर्मसंघ की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने की दृष्टि से प्रथम बौद्धसंगति में कठोर नियमों का गठन किया गया। इसका मूल उद्देश्य यही था कि भिक्षु-भिक्षुणी बुरे कार्यों से दूर रहेंगे। बौद्धसंघ में दो प्रकार के दण्ड थे– कठोर दण्ड और नरम दण्ड । कठोर दण्ड में पाराजिक एवं संघादि शेष दण्ड आते थे। यह दुट्ठुलापत्ति, गरुकापत्ति, अदेसनागामिनी आपत्ति, थुल्लवज्जा आपत्ति, अनवसेसापत्ति विविध नामों से जाना और पहचाना जाता है।

नरम दण्ड, इसमें पूर्वापेक्षया नरम दण्ड दिया जाता है। इसे अदुट्ठुल्लापत्ति, लहुकापत्ति, अथुल्लवज्जा आपत्ति, सावसेसापत्ति, देसनागामिनी आपत्ति आदि नामों से जानते-पहचानते हैं।

यहाँ यह एक बात विशेष रूप से स्मरण में रखनी होगी कि जैन परम्परा में हर स्थान पर भिक्षु और भिक्षुणी निग्गन्थ या निग्गन्थिनी के लिए विभिन्न प्रायश्चित्तों का विधान है और इसी प्रकार बौद्ध परम्परा में भी दोनों के लिए

---

१. पातिमोक्खं ति आदिमेतं मुखमेतं पामुखमेतंकुसलानं धम्मानं तेन वुच्चति पातिमोक्खं ति ।
–गोपक मोग्गलायनसुत्त मज्झिमनिकाय ३।१।८

अलग-अलग विधान है। बौद्ध संघ में भिक्खु पातिमोक्ख और भिक्खुनी पातिमोक्ख ये दो विभाग हैं। भिक्खु पातिमोक्ख के नियमों की संख्या अधिक है। वर्तमान में हमारे सामने भिक्खु पातिमोक्ख के सम्बन्ध में ग्रन्थ उपलब्ध न होने से भिक्खुनी पातिमोक्ख के आधार से ही यहाँ चर्चा कर रहे हैं।

भिक्षु-भिक्षुणियों को जिस अपराध के कारण दण्ड दिया जाता है वह आपत्ति के नाम से विश्रुत है। भिक्षुणी पातिमोक्ख के अनुसार पाँच प्रकार की आपत्तियाँ हैं–(१) पाराजिक, (२) संघादिदेस, (३) निस्सग्गिय पाचित्तिय, (४) पाचित्तिय, (५) पाटिदेसनीय। इनके अतिरिक्त तीन आपत्तियों का वर्णन और मिलता है। (१) थुल्लच्चय, (२) दुक्कट, (३) दुब्भासित।

पाराजिक यह सबसे कठोर अपराध है। प्रस्तुत अपराध करने वाले को संघ से बहिष्कृत कर दिया जाता था। संघ में प्रवेश करने का उसे पुनः अधिकार नहीं था।[1] जो सद्धर्म के मार्ग से च्युत हो गया है उस अपराधी की तुलना उस वृक्ष के मुर्झाये हुए पत्ते से की गई है जिसका सम्बन्ध वृक्ष से कट गया हो।[2] पाराजिक का अपराधी धर्म ज्ञान से च्युत माना जाता था।[3] पाराजिक आठ प्रकार के हैं– (१) मैथुन सेवन करना (२) चोरी करना (३) मानव की हत्या करना, शस्त्र की अन्वेषणा करना, मृत्यु की प्रशंसा करना। (४) दिव्य शक्ति प्राप्त न होने पर भी दिव्य शक्ति मुझे प्राप्त है इस प्रकार दावा करना (५) कामासक्त होकर भिक्षुणी का कामुक पुरुष के जानू भाग के ऊपर और कटिभाग से निचले भाग का स्पर्श करना (६) पाराजिक दोष वाले को जानते हुए भी न स्वयं उसे रोकना और न गण को सूचित करना (७) जो समग्र संघ के द्वारा निष्कासित, धर्म विनय और बुद्ध के उपदेश पर जो श्रद्धारहित है उसका अनुगमन करना, तीन बार मना करने पर भी नहीं मानना (८) कामासक्त होकर भिक्षुणी का कामुक पुरुष का हाथ पकड़ना और उसके संकेत के अनुसार स्थान पर जाना। इसी प्रकार भिक्षुणी या महिला का हाथ पकड़ना और उसके संकेतानुसार कार्य करना।

इन आठ पाराजिक में गम्भीरतम अपराध मैथुन का है। बिना रागभाव के मैथुन नहीं हो सकता। इसलिए सतत् संघ सावधान रहता था।

पाराजिक अपराध के सदृश संघादिदेस अपराध भी है। इसमें भी मुख्य रूप से ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए ही विशेष सावधानी हेतु निर्देश दिया गया है।

---

१. समन्तपासादिका भाग तृतीय पृ. १४५

२. पाचित्तिय पालि पृ. २८७, २९१

३. "पाराजिकेति पार नामोच्यते धर्मज्ञानम्। ततोजीना ओजीना संजीना परिहीणा तेनाह पाराजिकेति।" —भिक्षुणी विनय, १२३

साथ ही संघभेद न करना, दुर्वचन न बोलना, संघ की निन्दा न करना, एक दूसरे का उपहास नहीं करना, एक दूसरे के अपराध को जो गोपनीय हैं उन्हें प्रकट न करना। संघादिदेस के अपराधी को मानत नामक दण्ड दिया जाता था। संघादिदेस अपराध करने पर भिक्षु को शीघ्र ही संघ को सूचित करना होता था। जो शीघ्र सूचित करता था उसे छह रात का मानत दण्ड दिया जाता था। और जो अपराध को छिपाता था उसके लिए परिवास का दण्ड अर्थात् निष्कासित करने का विधान था। जितने दिन छिपाता उतने दिन उसे परिवास का दण्ड दिया जाता था।[1] परिवास के पश्चात् उसे पुनः छह रात का मानत प्रायश्चित्त करना पड़ता था। इस प्रकार के अपराधी भिक्षु को संघ से बाहर रहने का विधान था और प्रायश्चित्त काल तक उसे अन्य अधिकारों से वञ्चित कर दिया जाता था।

जो भिक्षु परिवास दण्ड का प्रायश्चित्त कर रहा हो उसके लिए कुछ विशेष नियम थे। वह उपसम्पदा और निस्सय प्रदान नहीं कर सकता था। भिक्षुणियों को उपदेश भी नहीं दे सकता था। वह भिक्षुओं के साथ भी नहीं रह सकता था। उपोसथ और प्रवारणा को रोक नहीं सकता था और न वह किसी पर दोष लगा सकता था और न किसी को दण्ड भी दे सकता था।[2] भिक्षुणी के लिए परिवास दण्ड का विधान नहीं था। ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी के अशोक के अभिलेखों में संघभेद करने पर भिक्षु और भिक्षुणी दोनों को आनावासस्थान में प्रेषित कर देने का वर्णन है।[3] बुद्धघोष[4] के मन्तव्यानुसार चेतियघर (श्मशान-स्थल), बोधिघर (बोधिगृह), सम्मज्जनीअट्टक (स्नानगृह), दारू-अट्टक (लकड़ी बनाने का स्थान), पानीयमाल (छज्जा), वच्चकुटी (शौचालय) तथा द्वार कोट्टक (द्वारकोष्ठक) ये अनावासस्थान थे।[5]

डॉ. अरुणप्रतापसिंह की यह कल्पना है कि बौद्धसंघ में पहले भिक्षुणियों के लिए भी परिवास दण्ड का विधान था। यह सम्राट अशोक के अभिलेखों से स्पष्ट होता है। पर बाद में संघ ने देखा होगा अनावास स्थान में रहने से भिक्षुणियों की शीलरक्षा की समस्या उपस्थित होगी। इसलिए उस विधान में परिवर्तन किया गया हो।

---

१. चुल्लवग्ग पाहि पृ. ४००
२. चुल्लवग्ग पाहि पृ. ६७-८१
३. ए चं खो भिक्खु वा भिक्खुनि वा संघं भाखति से ओदातानि दुसानि संनं धापयिया अनावासस्मि आवासेतवे।
४. Corpus Inscriptionum Indicarum Vol. I. P. 161
५. समन्तपासादिका भाग तृतीय पृ. १२४११

थेरवादीनिकाय में भिक्षुणियों के लिए १६६ पाचित्तिय (प्रायश्चित्त) नियम बताये गये हैं, तो महासांघिकनिकाय में पाचित्तिय धर्म की संख्या ९४९ है। वहां पर उसे शुद्ध पाचित्तिक धर्म कहा गया है। दोनों में ही पाचित्तिय नियम प्रायः समान हैं। इन नियमों में कुछ नियम दुष्कृत्य से सम्बन्धित हैं। अन्तर्मानस में बुरी भावना आने पर या बुरे कार्य करने पर प्रायश्चित्त दिया जाता था। कुछ नियम बुद्ध धर्म और संघ या अन्य किसी भी व्यक्ति को कटुवचन कहने पर प्रायश्चित्त देने के थे। कुछ नियम मैथुन सम्बन्धी अपराध के लिए प्रायश्चित्त देने के थे। हस्तकर्म करना, गुप्तेन्द्रिय को तेल घृत आदि लगाकर संचालित करना, कृत्रिम मैथुन आदि से सम्बन्धित अपराध करने पर प्रायश्चित्त दिये जाते थे। कुछ नियम हिंसा सम्बन्धी अपराधों के प्रायश्चित्त देने के थे! कुछ नियम किसी को मारना, पीटना तथा ताड़ना, तर्जना, आत्मघात करना और शस्त्र आदि से सम्बन्धित थे। कुछ नियम चोरी सम्बन्धी अपराध के लिए प्रायश्चित्त देने के थे। कुछ नियम संघ संबंधित अपराधों के प्रायश्चित्त देने के थे। संघ से निष्कासित व्यक्ति के साथ सम्बन्ध करना। संघीय आचारसंहिता का पालन न करना। कितने ही नियम आहार सम्बन्धी अपराध से सम्बन्धित हैं। रात्रिभोजन करना। स्वस्थ भिक्षुणी का घृत, तेल, मधु, मांस, मछली, मक्खन, लहसुन का सेवन करना। कच्चे अनाज को भूनकर खाना। गृहस्थ या परिव्राजक को अपने हाथ से खिलाना। विकाल में भोजन करना, स्वादिष्ट भोजन के लिए गृहस्थों के यहाँ भटकना। कुछ नियम वस्त्रों से सम्बन्धित हैं। वस्त्रों को नाप से अधिक बड़ा या छोटा रखना। सूत कातना आदि का निषेध है और कुछ नियम स्वाध्याय से सम्बन्धित हैं।

मन्त्र आदि विद्याओं को सीखने का निषेध किया गया है। उसे धर्म के सार को ही ग्रहण करना है अन्य निरर्थक बातें नहीं।

सारांश यह है कि चाहे जैन परम्परा रही हो, चाहे बौद्ध परम्परा रही हो, चाहे वैदिक परम्परा रही हो, सभी ने मैथुन, चोरी और हिंसा को गम्भीरतम अपराध माना है। जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं ने संघ को अत्यधिक महत्व दिया। संघ और संघनायक की अवहेलना करना भी महान् अपराध है। एक जैनाचार्य ने तो यहाँ तक लिखा है कि जब तीर्थंकर समवसरण में विराजते हैं तब 'नमो संघस्स' कहकर संघ की अभिवन्दना करते हैं। जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं ने बहुत ही सतर्कता रखी है कि कोई भी अयोग्य पात्र दीक्षा ग्रहण न करे। क्योंकि अयोग्य पात्र के संघ में प्रवेश हो जाने से दुराचार बढ़ सकता है। जैन और बौद्ध श्रमण और श्रमणियों की आचारसंहिता में अनेक स्थानों पर समानता है और प्रायश्चित्त-व्यवस्था में भी अनेक स्थानों पर समानता है।

प्रायश्चित्त की जो सूचियाँ दोनों परम्पराओं में हैं उसमें भी काफी समानता है। यह सत्य है कि बौद्ध परम्परा मध्यममार्गीय रही इसलिए उसकी आचारसंहिता भी मध्यम मार्ग पर ही आधारित है। जैन परम्परा उग्र और कठोर साधना पर बल देती रही है। इसलिए उसकी आचारसंहिता भी कठोरता को लिए हुए है।

विशेषता यह है कि जैनशासन में परिस्थिति के अनुसार अपराध को देखकर प्रायश्चित्त दिया जाता है। यदि कोई साधक स्वेच्छा से अपराध करता है, बार-बार अपराध करता है, अपराध करके भी गुरुजनों के समक्ष उस अपराध को स्वीकार नहीं करता या माया का सेवन करता है तो उसके लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था थी और वही अपराध अनजान में या परिस्थिति विशेष के कारण हो गया है। गुरुजनों के समक्ष निष्कपट भाव से यदि वह आलोचना करता है। अपराध को स्वीकार करता है तो उसको प्रायश्चित्त कम दिया जाता है। पर बौद्धशासन में इस प्रकार प्रायश्चित्त की व्यवस्था नहीं थी। जैनशासन में जो दस प्रायश्चित्त हैं उनमें से आलोचना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग आदि ऐसे प्रायश्चित्त हैं जो साधक को प्रातःकाल और सन्ध्याकाल करने होते हैं। गुरु के समक्ष उन पापों को निवेदन करने होते हैं। पर बौद्धशासन में इस प्रकार प्रतिदिन आलोचना, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग करने का और प्रायश्चित्त से मुक्त होने का आवश्यक नियम नहीं था। वहाँ तो पन्द्रहवें दिन उपोसथ के समय पातिमोक्ख नियमों का वाचन होता था अतः बौद्धसंघ में अपराध की सूचना पन्द्रह दिन के पश्चात् मिलती थी और वर्ष में एक बार प्रवारणा के समय देखा हुआ, सुना हुआ और शंका किये हुए अपराध की अन्वेषणा होती थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपराध करना मानव का स्वभाव है। जरा-सी असावधानी से स्खलनाएँ हो जाती हैं पर उन स्खलनाओं की विशुद्धि हेतु जैन और बौद्ध परम्परा में जो प्रायश्चित्तविधान हैं उनमें सहजता है, सुगमता है। पर वैदिक परम्परा के प्रायश्चित्तविधानों में दण्डव्यवस्था भी सम्मिलित हो गई। जिसके फलस्वरूप अंगछेदन आदि का भी विधान हुआ। जबकि जैन और बौद्ध परम्परा में इस प्रकार के विधान नहीं हैं।

अपराध व प्रायश्चित्त विधान : वैदिक दृष्टि से

भारतीय संस्कृति की एक धारा वैदिक परम्परा है। एक ही धरती पर श्रमणसंस्कृति और वैदिकसंस्कृति धाराएँ प्रवाहित हुई हैं। वैदिक संस्कृति के महामनीषियों ने भी पापपंक से मुक्त होने के लिए विविध विधान किये हैं। ऋग्वेद के महर्षियों के अन्तर्मानस में भी पापरहित होने की प्रबल भावना पाई जाती है।

पापों की संख्या, उनके विविध प्रकारों के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टियों से चिन्तन किया गया है। ऋग्वेद में कहा गया कि बुद्धिमान या विज्ञों के लिए सात मर्यादाएँ बताई गई हैं। उनमें से किसी एक का भी जो अतिक्रमण करता है वह पापी है।[1] तैत्तिरीयसंहिता[2] शतपथब्राह्मण[3] और अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्राह्मणहत्या को सबसे बड़ा पाप माना है। काठक[4] में भ्रूणहत्या को ब्रह्महत्या से भी विशेष पाप माना है। बृहदारण्यकोपनिषद् में[5] चोर और भ्रूण हत्यारे को महापापी में गिना है। वसिष्ठसूत्र ने पापियों को तीन कोटि में बांटा है--१. एनस्वी, २. महापातकी, ३. उपपातकी। एनस्वी साधारण पापी को कहते हैं। उसके लिए विशिष्ट प्रायश्चित्त की व्यवस्था की गई है। वसिष्ठ के मतानुसार महापातक पांच हैं (१) गुरु की शय्या को अपवित्र करना (२) सुरापान (३) भ्रूण की हत्या (४) ब्राह्मण के हिरण्य की चोरी (५) पतित का संसर्ग। उपपातकी वह है जो अग्निहोत्र का त्याग कर देता है। अपने अपराध से गुरु को कुपित करता है। नास्तिकों के यहाँ जीविका का अर्जन करता है। यह सत्य है, इन पापों की कोटियों के सम्बन्ध में भी विभिन्न मत रहे हैं, विस्तारभय से हम उन सबकी चर्चा और मतों का उल्लेख यहाँ नहीं कर रहे हैं। ब्रह्महत्या, सुरापान, चोरी, गुरु की पत्नी के साथ सम्भोग आदि के वर्णन अग्निपुराण, प्रायश्चित्तविवेक, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, मनुस्मृति आदि में विस्तार से हैं। नारद[6] का कथन है कि यदि व्यक्ति माता, मौसी, सास, मामी, फूफी, चाची, मित्रपत्नी, शिष्यपत्नी, बहिन, बहिन की सखी, पुत्रवधू, आचार्यपत्नी, सगोत्रनारी, दाई, व्रतवती नारी एवं ब्राह्मणनारी के साथ सम्भोग करता है वह गुरुतल्प नामक व्यभिचार के पाप का अपराधी हो जाता है। ऐसे दुष्कृत्य के लिए शिश्न-कर्तन के अतिरिक्त कोई और दण्ड नहीं है।

विभिन्न प्रकार के पाप करने के पश्चात् उस पाप से अपने आपको बचाने के लिए अदिति, मित्र, वरुण आदि की स्तुतियाँ करने का क्रम चालू हुआ। अपने अपराध के परिणामों से भयभीत होकर उन्होंने विविध प्रकार के व्रत आदि भी करने प्रारम्भ किये। ऋग्वेद[7] के अनुसार सर्वप्रथम पाप के फल को दूर करने

---

१. ऋग्वेद १०/५/६
२. तैत्तिरीयसंहिता (२/५/९/२, ५/३/१२/१-२)
३. शतपथब्राह्मण (१३/३/१/१)
४. काठक (१३/७)
५. बृहदारण्यकोपनिषद् ४/३/२२
६. नारदस्मृति श्लोक ७३-७५
७. ऋग्वेद ७/८६/४-५, ८/८८/६-७, ७/८९/१-४

हेतु, दया के लिए प्रार्थना, पाप से बचने के लिए स्तुतियाँ तथा गम्भीर पापों के फल से छुटकारा पाने हेतु यज्ञ का विधान किया। तैत्तिरीयसंहिता[1] शतपथब्राह्मण[2] का मन्तव्य है कि अश्वमेध यज्ञ करने से देवतागण राजा को पापमुक्त कर देते थे। पाप से मुक्त होने का एक अन्य साधन था पाप की स्वीकारोक्ति।

गौतम धर्मसूत्र[3], वसिष्ठस्मृति[4] का कथन है–जप-तप-होम-उपवास एवं दान ये दुष्कृत्य के प्रायश्चित्त हैं। आचार्य मनु[5] ने लिखा है कि अपराध को स्वीकार कर पश्चात्ताप, तप, गायत्री मन्त्र के जाप से पापी अपराध से मुक्त हो जाता है। यदि वह यह कार्य न कर सके तो दान से मुक्त हो जाता है। यह बात पाराशर[6] शातातपस्मृति[7] भविष्यपुराण[8] में बताई गई है। शतपथब्राह्मण[9] में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो व्यक्ति पाप को स्वीकार कर लेता है उसका पाप कम हो जाता है। पापमोचन के लिए आत्मापराध को स्वीकार करना सर्वप्रथम आवश्यक था। इसे ही जैनपरम्परा में आलोचना कहा है। गौतमधर्मसूत्र और मनुस्मृति में लिखा है कि ब्रह्मचर्याश्रम में विद्यार्थी के द्वारा सम्भोग का अपराध होने पर सात घरों में भिक्षा मांगते अपने दोष की घोषणा करनी चाहिए।

पाप होना उतना बुरा नहीं जितना पाप को पाप न समझना। मनुस्मृति[10] विष्णुधर्मोत्तर[11] और ब्रह्मपुराण[12] में स्पष्ट रूप से लिखा है कि व्यक्ति का मन जितना ही अपने दुष्कर्म को घृणित समझता है उतना ही उसका शरीर पाप से मुक्त हो जाता है। यदि व्यक्ति पापकृत्य करने के पश्चात् भी पश्चात्ताप नहीं करता है तो पाप से मुक्त नहीं हो सकता। उसे मन में यह संकल्प करना चाहिए कि मैं पुनः यह कार्य नहीं करूँगा। प्रायश्चित्त विवेक ग्रन्थ[13] में अंगिरा की एक

---

१. तैत्तिरीयसंहिता ५/३/१२/१-२
२. शतपथब्राह्मण १३/३/१/१
३. गौतमधर्मसूत्र १९/११
४. वसिष्ठस्मृति २२/८
५. मनुस्मृति ३/२२७
६. पराशर माधवीय १०/४०
७. शातातपस्मृति १/४
८. भविष्यपुराण प्राय. विवेक पृ. ३१
९. शतपथब्राह्मण २/५/२/२०
१०. मनुस्मृति ११/२२९-३०
११. विष्णुधर्मोत्तर २/७३/२३१-३३
१२. ब्रह्मपुराण २१८/५
१३. प्रायश्चित्तविवेक ग्रन्थ, पृ. ३०

युक्ति दी है–पापों को करने के उपरान्त यदि व्यक्ति अनुताप में डूबा हुआ हो और रातदिन पश्चात्ताप कर रहा हो तो वह प्राणायाम से पवित्र हो जाता है। प्रायश्चित्तप्रकाश[1] का मत है केवल पश्चात्ताप पापों को दूर करने के लिए पर्याप्त नहीं, अपितु उससे पापी प्रायश्चित्त करने के योग्य हो जाता है।

मनुस्मृति[2], बोधायनधर्मसूत्र[3], वसिष्ठस्मृति[4], अभिशंखस्मृति[5], आदि में कहा है यदि प्रतिदिन व्यक्ति ओंकार के साथ सोलह प्राणायाम करे तो एक मास के उपरान्त भ्रूणहत्या के पाप से मुक्त हो जाता है। विष्णुधर्मसूत्र[6] में यह भी लिखा है कि तीन प्राणायामों के सम्यक् सम्पादन से रात या दिन में किये गये सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। छान्दोग्योपनिषद्[7], मुण्डकोपनिषद्[8] में तप को यज्ञ से ऊपर माना है। गौतम[9] ने पाप के स्वरूप के अनुसार तप की निम्न अवधियाँ बताई हैं–एक वर्ष, छह मास, तीन मास, दो मास, एक मास, चौबीस दिन, बारह दिन, छह दिन, तीन दिन और एक रात। आचार्य मनु[10] ने घोषणा की कि जो महापातकों एवं अन्य दुष्कर्मों के अपराधी होते हैं वे सम्यक् तप से पापमुक्त हो जाते हैं। जैन साधना[11] पद्धति में भी पाप से मुक्त होने के लिए विविध प्रकार के तपों का उल्लेख किया गया है।

वैदिक ऋषियों ने पाप से मुक्त होने के लिए होम, जप की साधना, दान, उपवास, तीर्थयात्रा आदि अनेक प्रकार बताये हैं।

वैदिक साहित्य में प्रायश्चित्ति और प्रायश्चित्त ये दो शब्द व्यवहृत हुए हैं। तैत्तिरीयसंहिता[12] में प्रायश्चित्ति शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। यह शब्द वहाँ पर पाप के प्रायश्चित्त के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद[13]

---

१. प्रायश्चित्तविवेक, पृ. ३०
२. मनुस्मृति ११/२४८
३. बोधायनधर्मसूत्र ४/१/३१
४. वसिष्ठस्मृति २६/४
५. अभिशंखस्मृति २/५,१२/१८-१९
६. विष्णुधर्मसूत्र ५५/२
७. छान्दोग्योपनिषद् ५/१०/१-२
८. मुण्डकोपनिषद् १०/१५४/२
९. गौतमधर्मसूत्र १७/१७
१०. मनुस्मृति ११/२३९-२४१
११. उत्तराध्ययन तीसवां अध्ययन
१२. तैत्तिरीयसंहिता २/१/२/४, २/१/२/४, ३/१/३/२-३, ५/१/९/३, एवं ५/३/१२/१
१३. अथर्ववेद १४/१/३०

वाजसनेयीसंहिता[1], ऐतिरीयब्राह्मण[2], शतपथब्राह्मण[3] कौषीतकिब्राह्मण[4] में प्रायश्चित्त शब्द का प्रयोग हुआ है। आपस्तंबश्रौतसूत्र[5] शांखायनश्रौतसूत्र[6] में प्रायश्चित्ति और प्रायश्चित्त ये दोनों शब्द दिये हैं। प्रायश्चित्तविवेक[7] ग्रन्थ में प्रायश्चित्त की व्युत्पत्ति प्रायः–तप और चित्त–संकल्प अर्थात् प्रायश्चित्त का सम्बन्ध पापमोचन हेतु तप का संकल्प करना। बागभट्टी याज्ञवल्क्यस्मृति[8] में प्रायः का अर्थ पाप और चित्त का अर्थ शुद्धिकरण है। हेमाद्रि[9] ने एक अज्ञात भाष्यकार की व्याख्या को उद्धृत कर लिखा है प्रायः का अर्थ विनाश है और चित्त का अर्थ संधान है। अर्थात् प्रायश्चित्त का अर्थ हुआ जो नष्ट हो गया है उसकी पूर्ति करना। अतः पापक्षय के लिए नैमित्तिक कार्य है।

बृहस्पति[10] आदि विज्ञों ने पाप के दो प्रकार किये हैं। एक कामकृत है अर्थात् जो जान-बूझकर किया जाता है। दूसरा अकामकृत है जो बिना जाने-बूझे हो जाय। अकामकृत पापों को प्रायश्चित्त के द्वारा नष्ट किया जा सकता है। पर कामकृत पाप को प्रायश्चित्त के द्वारा नष्ट किया जा सकता है या नहीं? इस सम्बन्ध में विज्ञों में अत्यधिक मतभेद रहा है। मनुस्मृति[11] में और याज्ञवल्क्यस्मृति[12] में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्रायश्चित्त या विद्याध्ययन से अनजान में किये गये पापों का विनाश होता है। याज्ञवल्क्यस्मृति[13] में लिखा है कि जान-बूझकर किये पापों को प्रायश्चित्त नष्ट नहीं करता अपितु पापी प्रायश्चित्त कर लेता है तो अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आ जाने के योग्य हो जाता है। मनु[14] ने भी लिखा है–जब तक प्रायश्चित्त नहीं कर लेता तब तक

---

१. वाजसनेयीसंहिता ३९/१२
२. ऐतिरीयब्राह्मण ५/२७
३. शतपथब्राह्मण ४/५/७/१, ७/१/४/९, १/५/३/८ एवं १२/५/१/६
४. कौषीतकिब्राह्मण ५/९/६/१२
५. आपस्तंबश्रौतसूत्र ३/१०/३८
६. शांखायनश्रौतसूत्र ३/१९/१
७. प्रायश्चित्तविवेक पृ. २
८. याज्ञवल्क्यस्मृति ३/२०६
९. हेमाद्रि प्रायश्चित्तविवेक पृ. ९९९
१०. धर्मशास्त्र का इतिहास भाग ३ पृ. १०४५
११. मनुस्मृति ११/४५
१२. याज्ञवल्क्यस्मृति ३/२२६
१३. याज्ञवल्क्यस्मृति ३/२२५
१४. मनुस्मृति ११/४७

उसे विज्ञजनों के सम्पर्क में नहीं आना चाहिए। स्मृतियों में यत्र-तत्र पापमोचन के लिए प्रायश्चित्तों की व्यवस्था दी है। गौतमधर्मसूत्र[1], वसिष्ठस्मृति[2], मनुस्मृति[3], याज्ञवल्क्यस्मृति[4] में उन महामनीषियों ने माता, बहिन, पुत्रवधू आदि के साथ व्यभिचार सेवन करने वाले को अण्डकोप एवं लिंग काट दिये जाने पर दक्षिण-दिशा में या दक्षिण-पश्चिम दिशा में तब तक चलते रहना है जब तक उसका शरीर भूमि पर लुढ़क न पड़े। आचार्य मनु[5] ने लिखा है कि चोर को कोई मूसल या गदा या दुधारी-शक्ति जो एक प्रकार की बरछी होती थी अथवा लोहदण्ड लेकर राजा के पास जाना चाहिए और अपने अपराध की घोषणा करे। राजा के एक बार मारने से वह मृत हो जाय या अर्धमृत होकर जीवित रहे तो वह चोरी के अपराध से मुक्त हो जाता है।

वैदिक परम्परा में प्रायश्चित्त सम्बन्धी साहित्य अत्यधिक विशाल रहा है। इसका कारण यह था कि प्राचीन युग में प्रायश्चित्तों का जन-साधारण में बड़ा महत्व था। देखिए, गौतमधर्मसूत्र के २८ अध्यायों में से १० अध्याय में प्रायश्चित्त का वर्णन है। वसिष्ठधर्मसूत्र में जो ३० अध्याय मुद्रित हुए हैं, उनमें से ९ अध्याय प्रायश्चित्त सम्बन्धी वर्णन से भरे पड़े हैं। मनुस्मृति में कुल २२२ श्लोक प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति अध्याय ३ में १००९ श्लोक हैं। उसमें १२२ श्लोक प्रायश्चित्त पर आधारित हैं। शातातपस्मृति के २७४ श्लोकों में केवल प्रायश्चित्त का ही वर्णन है। उतने ही पुराणों में भी प्रायश्चित्त का उल्लेख हुआ है। जैसे–अग्निपुराण (अध्याय १६८-१७४), गरुड़पुराण ५२, कूर्मपुराण (उत्तरार्ध ३०-३४), वराहपुराण (१३१-१३६), ब्रह्माण्डपुराण (उपसंहारपाद अध्याय ९), विष्णुधर्मोत्तरामृत (२,७३, ३/२३४-२३७) में प्रायश्चित्तों का वर्णन है। मिताक्षर, अपरार्क पाराशरमाधवीय प्रभृति टीकाओं में भी विस्तार से प्रायश्चित्त के ऊपर चिन्तन किया गया है। इनके अतिरिक्त प्रायश्चित्तप्रकरण, प्रायश्चित्तविवेक, प्रायश्चित्ततत्व, स्मृतिमुक्ताफल (प्रायश्चित्त वाला प्रकरण), प्रायश्चित्तसार, प्रायश्चित्तमयूख, प्रायश्चित्तप्रकाश, प्रायश्चित्तेन्दुशेखर में प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन है।

---

१. गौतमधर्मसूत्र २३/१०-११
२. वसिष्ठस्मृति २०/१३
३. मनुस्मृति ९१/१०४
४. याज्ञवल्क्यस्मृति ३/२५९
५. मनुस्मृति ८/३१४-३१५

यह भी स्मरण रखना होगा कि सभी व्यक्तियों के लिए एक समान प्रायश्चित्त नहीं था। समान अपराध होने पर भी प्रायश्चित्त देने में अन्तर था। प्रायश्चित्तों की कठोरता और अवधि व्यक्ति के द्वारा प्रथम बार अपराध करने पर या अनेक बार अपराध करने पर प्रायश्चित्त प्रदान करने वाली एक परिषद् होती थी। जो अपराधी के अपराध की गुरुता एवं स्वभाव को देखकर उसके अनुसार प्रायश्चित्त की व्यवस्था करती थी। प्रायश्चित्त के मुख्य चार स्तर थे– (१) परिषद् के पास जाना (२) परिषद् द्वारा उचित प्रायश्चित्त उद्घोष, (३) प्रायश्चित्त का सम्पादन, (४) पापी के पाप की मुक्ति का प्रकाशन।

वैदिक ग्रन्थों में अनेक प्रकार के प्रायश्चित्तों के नाम भी आये हैं और उन ग्रन्थों में प्रायश्चित्तों की विधि भी बताई गई है। हम उनमें से कुछ प्रायश्चित्तों का संकेत कर रहे हैं। प्रथम, यह प्रायश्चित्त जल में खड़े रहकर दिन में तीन बार अघमर्षण मन्त्रों का पाठ किया जाता है। इस प्रायश्चित्त का उल्लेख ऋग्वेद[१], बोधायनधर्मसूत्र[२], वसिष्ठस्मृति[३], मनुस्मृति[४], याज्ञवल्क्यस्मृति[५], विष्णुपुराण[६], शंखस्मृति[७] आदि में हुआ है।

दूसरा अतिकच्छ्र प्रायश्चित्त का उल्लेख है। आचार्य मनु[८] के अभिमतानुसार तीन दिन तक केवल प्रातःकाल एक कौर भोजन और सन्ध्याकाल भी एक कौर भोजन और बिना मांगे पुनः तीन दिन तक एक कौर भोजन और अन्त में तीन दिन तक उपवास करने का उल्लेख है।

अतिसान्तपन[९] इस प्रायश्चित्त की अवधि अठारह दिनों की है। इसमें छह दिनों तक गोमूत्र और अन्य पांच वस्तुओं का भोजन करते हैं।

अर्धकृच्छ्र[१०] यह छह दिनों का प्रायश्चित्त है। जिसमें एक दिन में केवल एक बार भोजन, एक दिन सन्ध्याकाल और दो दिन तक बिना मांगे भोजन और फिर पूर्ण उपवास।

---

१. ऋग्वेद १०/१९०/१-३
२. बोधायनधर्मसूत्र ४/२/१९/२०
३. वसिष्ठस्मृति २६/८
४. मनुस्मृति ११/२५९-२६०
५. याज्ञवल्क्यस्मृति ३/३०१
६. विष्णुपुराण ५५/७
७. शंखस्मृति १८/१-२
८. मनुस्मृति ११/२१३
९. विष्णुपुराण ४६/२१
१०. आपस्तंबस्मृति ९/४३/४४

गोमूत्रकृच्छ्र[1] एक गाय को जौ और गेहूँ खिलाया जाता है, फिर गाय के गोबर में से जितने दाने निकलें, गौमूत्र में उसके आटे की लापसी और माडें बनाकर पीना चाहिए।

चान्द्रायण[2] चन्द्र के बढ़ने और घटने के अनुरूप जिसमें भोजन किया जाय उसे चान्द्रायण-व्रत कहते हैं। चान्द्रायण-व्रत के यवमध्य जौ के समान बीच में मोटा और दोनों छोरों से पतला, पीपिलिकामध्य चींटी के सदृश बीच में पतला और दोनों छोर में मोटा ये दो प्रकार बोधायनधर्मसूत्र में दिए हैं। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति और वसिष्ठस्मृति में चान्द्रायण यवमध्य की परिभाषा इस प्रकार की है–शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन एक ग्रास, दूसरे दिन दो, इस प्रकार क्रमशः पूर्णिमा को पन्द्रह ग्रास का भोजन लिया जाता है। इसी प्रकार कृष्णपक्ष में प्रथम दिन चौदह ग्रास, एक-एक ग्रास कम करते हुए चतुर्दशी को एक ग्रास खाया जाता है और अमावस्या को उपवास किया जाता है। यदि कोई कृष्णपक्ष की प्रथम तिथि से व्रत प्रारम्भ करता है तो प्रथम दिन चौदह ग्रास खाता है और क्रमशः ग्रासों को कम करता जाता है। चतुर्दशी को एक ग्रास खाता है और अमावस्या को एक ग्रास भी नहीं खाता, फिर शुक्लपक्ष के प्रथम दिन एक ग्रास लेता है और बढ़ता-बढ़ता पूर्णमासी को पन्द्रह ग्रास खाता है। इस स्थिति में मास पूर्णिमान्त होता है। इस क्रम में व्रत के मध्य में एक भी ग्रास नहीं होता। अधिक ग्रासों की संख्या प्रारम्भ और अन्त में होती है। इससे यह प्रायश्चित्त पीपिलिकामध्य चन्द्रायन कहा जाता है। चन्द्रायन-व्रत के सम्बन्ध में विविध प्रकारों का उल्लेख है।

इस प्रकार विविध प्रायश्चित्त उतारने हेतु विविध प्रकार के तपों का उल्लेख ग्रन्थों में प्रतिपादित है। हम उन सबका यहाँ उल्लेख न कर डॉ. पाण्डुरंग वामन काणे के द्वारा लिखित धर्मशास्त्र का इतिहास भाग ३ को पढ़ने का कष्ट करें, यह संकेत कर रहे हैं। जहां इस पर विस्तार से विवेचन और चर्चा है।

● ●

---

१. प्रायश्चित्तसार पृ. १८७
२ (क) मिताक्षरा याज्ञवल्क्यस्मृति टीका ३/३२३
(ख) बोधायनधर्मसूत्र ३/८/३३
(ग) वसिष्ठस्मृति २७/१
(घ) मनुस्मृति ११/२७

निशीथसूत्र का व्याख्या साहित्य

निशीथनिर्युक्ति

छेदसूत्रों में निशीथ का बहुत ही गौरवपूर्ण स्थान रहा है। उसमें रहे हुए रहस्यों को व्यक्त करने हेतु समय-समय पर इस पर व्याख्या साहित्य का निर्माण हुआ है। सर्वप्रथम इस पर प्राकृत भाषा में पद्यबद्ध टीका लिखी गई। वह टीका निशीथनिर्युक्ति के नाम से विश्रुत है। इसमें मूल ग्रन्थ के प्रत्येक पद पर व्याख्या न कर मुख्य रूप से पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की गई है। यह व्याख्याशैली निक्षेपपद्धतिपरक है। निक्षेपपद्धति में किसी एक पद के सम्भावित अनेक अर्थ करने के पश्चात् उनमें से अप्रस्तुत अर्थों का निषेध कर प्रस्तुत अर्थ को ग्रहण किया जाता है। न्यायशास्त्र में यह पद्धति अत्यन्त प्रिय रही है। भद्रबाहुस्वामी ने निर्युक्ति के लिए यह पद्धति उपयुक्त मानी है। उन्होंने आवश्यकनिर्युक्ति में लिखा है कि एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं पर कौनसा अर्थ किस प्रसंग के लिए उपयुक्त है। श्रमण भगवान् महावीर के उपदेश के समय कौनसा अर्थ किस शब्द से सम्बद्ध रहा है प्रभृति सभी बातों को ध्यान में रखते हुए सही दृष्टि से अर्थ निर्णय करना। और उस अर्थ का मूल सूत्र के शब्दों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना निर्युक्ति का प्रयोजन है।[1] अपर शब्दों में कहा जाय तो सूत्र और अर्थ का निश्चित सम्बन्ध बताने वाली व्याख्या निर्युक्ति है[2] अथवा निश्चय से अर्थ का प्रतिपादन करने वाली युक्ति निर्युक्ति है।[3] सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान सारपेण्टियर ने निर्युक्ति की परिभाषा करते हुए लिखा है कि 'निर्युक्तियाँ अपने प्रधान भाग के केवल इंडेक्स का काम करती हैं। वे सभी विस्तारयुक्त घटनावलियों का संक्षेप से उल्लेख करती हैं।[4]

निशीथनिर्युक्ति में सूत्रगत शब्दों की व्याख्या निक्षेपपद्धति से की गई है। प्रस्तुत निर्युक्ति की गाथाएँ भाष्य से मिल गई हैं। जहाँ पर चूर्णिकार यह संकेत

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. ८८

२. सूत्रार्थयोः परस्परं निर्योजनं सम्बन्धनं निर्युक्तिः। —आवश्यकनिर्युक्ति गा. ८३

३. निश्चयेन अर्थप्रतिपादिकयुक्तिः निर्युक्तिः। —आचारांगनिर्युक्ति १/२/१

४. उत्तराध्ययन की भूमिका, पृ. ५०-५१

करते हैं वहीं पर यह पता चलता है कि यह निर्युक्ति की गाथा है और यह भाष्य की गाथा हैं। इस निर्युक्ति में श्रमणाचार का ही निरूपण हुआ है।

निशीथभाष्य

निर्युक्तियों की व्याख्याशैली अत्यन्त गूढ़ और संक्षिप्त थी। उसका मुख्य लक्ष्य पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करना था। निर्युक्तियों के गम्भीर रहस्यों को प्रकट करने हेतु निर्युक्तियों की तरह ही प्राकृत भाषा में पद्यात्मक व्याख्या लिखी गयी जो भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। निर्युक्तियों के शब्दों में छिपे हुए अर्थबाहुल्य को अभिव्यक्त करने का सर्वप्रथम श्रेय भाष्यकारों को है। निशीथ के भाष्य-रचयिता श्री संघदासगणि हैं। प्रस्तुत भाष्य की अनेक गाथाएँ बृहत्कल्प और व्यवहारभाष्य में भी हैं। अनेक रसप्रद सरस कथाएँ भी हैं। विविध दृष्टियों से श्रमणाचार का निरूपण हुआ है। जैसे पुलिंद आदि अनार्य अरण्य में जाते हुए श्रमणों को आर्य समझ कर मार देते थे। सार्थवाह व्यापारार्थ दूर-दूर देशों में जाते थे। उस युग में अनेक प्रकार के सिक्के प्रचलित थे। भाष्य में बृहत्कल्प, नन्दीसूत्र, सिद्धसेन और गोविन्द-वाचक आदि के नामों का उल्लेख हुआ है।

निशीथचूर्णि

भाष्य के पश्चात् जैनाचार्यों ने गद्यात्मक व्याख्या साहित्य लिखने का निश्चय किया। उन्होंने शुद्ध प्राकृत में और संस्कृत मिश्रित प्राकृत में व्याख्याओं की रचना की। जो व्याख्या चूर्णि के नाम से विश्रुत है। निशीथ पर दो-दो चूर्णियाँ निर्मित हुईं, किन्तु वर्तमान में उस पर एक ही चूर्णि उपलब्ध है। निशीथचूर्णि के रचयिता जिनदासगणि महत्तर हैं। इस चूर्णि को विशेष चूर्णि कहते हैं। इस चूर्णि में मूल सूत्र, निर्युक्ति व भाष्य गाथाओं का विवेचन है। इस चूर्णि की भाषा संस्कृत मिश्रित प्राकृत है।

हमने पूर्व पंक्तियों में निशीथ के बीस उद्देशकों का संक्षिप्त सार प्रस्तुत किया है। वह सार निशीथ मूल आगम के अनुसार दिया गया है। निशीथचूर्णि में निशीथ के मूल भावों को स्पष्ट करने के लिए कुछ नये तथ्य चूर्णिकार ने अपनी ओर से दिये हैं। अतः हम प्रबुद्ध पाठकों को निशीथचूर्णि में जो वर्णन आया है उसका सार यहां दे रहे हैं, इसलिए यह पुनरावृत्ति नहीं है। पाठक स्वयं अनुभव करेंगे कि चूर्णिकार ने किस प्रकार विषय को स्पष्ट किया है।

चूर्णिकार ने सर्वप्रथम अरिहन्त, सिद्ध और साधुओं को नमस्कार किया है और अर्थप्रदाता प्रद्युम्न महाश्रमण को भी नमस्कार किया है। आचार, अग्र,

प्रकल्प, चूलिका और निशीथ इन सबका निक्षेपपद्धति से चिन्तन किया गया है। निशीथ का अर्थ है अप्रकाश + अन्धकार। अप्रकाशित वचनों के सही निर्णय हेतु निशीथसूत्र है। लोकव्यवहार में निशीथ का प्रयोग रात्रि के अन्धकार के लिए होता है। निशीथ के अन्य अर्थ भी दिये गये हैं। जिससे आठ प्रकार के कर्मपंक नष्ट किये जायें वह निशीथ है।

प्रथम पुरुष प्रतिसेवक का वर्णन है। उसके पश्चात् प्रतिसेवना और प्रतिसेवितव्य का स्वरूप बताते हुए अप्रमाद-प्रतिसेवना, सहसाकरण, प्रमादप्रतिसेवना, क्रोध आदि कषाय, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की विराधना, विकथा, इन्द्रिय, निद्रा आदि अनेक महत्वपूर्ण विषयों का विवेचन किया गया है। आलस्य, मैथुन, निद्रा, क्षुधा और आक्रोश इन पाँचों का जितना सेवन किया जाय, उतना ही वे द्रौपदी के दुकूल की तरह बढ़ते रहते हैं।

स्त्यानर्द्धिनिद्रा वह है जिसमें तीव्र दर्शनावरणकर्म का उदय होता है, जिस निद्रा में चित्त स्त्यान कठिन या जम जाय वह स्त्यानर्द्धि है। उसके स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए चूर्णिकार ने पुद्गल, मोदक, कुम्भकार और हस्तीदन्त के उदाहरण दिये हैं।

षट्जीवनिकाय की यतना, उसमें लगने वाले दोष, अपवाद और प्रायश्चित्त का पीठिका में विवेचन किया गया है। अशन, पान, वसन, वसति, हलन-चलन-शयन, भ्रमण, भाषण, गमन, आगमन आदि पर विचार किया गया है।

प्राणातिपात का विवेचन करते हुए मृषावाद को लौकिक और लोकोत्तर इन दो भागों में विभक्त किया गया है। लौकिक मृषावाद में शशक, एलाषाढ़, मूलदेव, खण्डपाणा इन चार धूर्तों के आख्यान हैं। इस धूर्ताख्यान का मूल आधार आचार्य हरिभद्रकृत धूर्ताख्यान की प्राचीन कथा है। इसके बाद लोकोत्तर मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और रात्रिभोजन का वर्णन है, जो दर्पिका सम्बन्धी और कल्पिका सम्बन्धी दो भागों में विभक्त है। दर्पिका में इन विषयों में लगने वाले दोषों का वर्णन है और उन दोषों के सेवन का निषेध किया गया है। कल्पिका में उनके अपवादों का वर्णन है। मूलगुणप्रतिसेवना के पश्चात् उत्तरगुणप्रतिसेवना का वर्णन है। उसमें पिण्डविशुद्धि आदि का वर्णन है। पीठिका के उपसंहार में इस बात पर प्रकाश डाला है कि निशीथपीठिका का सूत्रार्थ बहुश्रुत को ही देना चाहिए, अयोग्य पुरुष को नहीं।

प्रथम उद्देशक में चतुर्थ महाव्रत पर विस्तार से विश्लेषण है। इसमें पांच प्रकार की चिलिमिलिकाओं को ग्रहण करना, उसका प्रमाण और उपयोग पर

प्रकाश डाला है। लाठी और उसकी उपयोगिता पर भी विचार किया गया है। वस्त्र फाड़ने, सीने आदि के नियमोपनियम भी बताये हैं।

द्वितीय उद्देशक में पादप्रोंछन के ग्रहण, सुगन्धित पदार्थों के सूँघने, कठोर भाषा का उपयोग करने तथा स्नान आदि करने का निषेध है और दाता की पूर्व व पश्चात् स्तुति का भी निषेध किया गया है। द्रव्यसंस्तव ६४ प्रकार का है। उसमें जव, गोधूम, शालि आदि २४ प्रकार के धान्य, सुवर्ण, तंब, रजत, लोह, शीशक, हिरण्य, पाषाण, बेर, मणि, मौक्तिक, प्रबाल, शंख, तिनिश, अगरु, चन्दन, अभिलात वस्त्र, काष्ठ, दन्त, चर्म, बाल, गन्ध, द्रव्य औषध ये २४ प्रकार के रत्न, भूमि, घर, तरु ये तीन प्रकार के स्थावर; शकट आदि और मनुष्य ये दो प्रकार के द्विपद; गौ, उष्ट्री, महिषी, अज, मेष, अश्व, अश्वतर, घोटक, गर्दभ, हस्ती ये दस प्रकार के चतुष्पद और ६४ वां कुप्य उपकरण है।

शय्यातर का पिण्ड अग्राह्य है। उसे ग्रहण करने पर मासलघु का प्रायश्चित्त आता है। (१) सागारिक कौन होता है, (२) वह शय्यातर कब बनता है, (३) उसके पिण्ड के प्रकार, (४) अशय्यातर कब बनता है, (५) सागारिक किस संयत द्वारा परिहर्तव्य है, (६) सागारिक-पिण्ड के ग्रहण से दोष, (७) किस परिस्थिति में सागारिकपिण्ड ग्रहण किया जा सकता है, (८) यतना से ग्रहण करना, (९) एक या अनेक सागारिकों से ग्रहण करना आदि विषयों पर चिन्तन किया गया है। सागारिक के सागारिक, शय्यातर, दाता, घर, तर ये पाँच प्रकार हैं। शय्या और संस्तारक का अन्तर बताते हुए कहा कि शय्या पूरे शरीर के बराबर होती है और संस्तारक ढाई हाथ लम्बा होता है। उसके भी भेद-प्रभेद का विस्तार से वर्णन है।

उपधि का विवेचन करते हुए उसके अवधियुक्त और उपगृहीत ये दो प्रकार बताये हैं। जिनकल्पिकों के लिए बारह प्रकार की, स्थविरकल्पिकों के लिए चौदह प्रकार की और साध्वियों के लिए पच्चीस प्रकार की उपधि अवधियुक्त है। जिनकल्पिक पाणिपात्रभोजी और प्रतिग्रहधारी ये दो प्रकार के होते हैं। जिनकल्पिक की अवधि की आठ कोटियाँ हैं। उनके दो, तीन, चार, पांच, नौ, दस, ग्यारह, बारह ये भेद हैं। निर्वस्त्र पाणिपात्र की जधन्य उपधि रजोहरण और मुखवस्त्रिका ये दो होती हैं। यदि पाणिपात्रभोजी सवस्त्र है और एक कपड़ा ग्रहण करता है तो उसके तीन प्रकार हैं।

तृतीय उद्देशक में भिक्षाग्रहण में लगने वाले दोषों और उनकी शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। अन्य दोषों के सम्बन्ध में भी चिन्तन किया है।

चतुर्थ उद्देशक में अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग, कायोत्सर्ग के विविध प्रकार, समाचारी, निर्ग्रन्थी के स्थान पर श्रमण का प्रवेश, राजा, अमात्य, श्रेष्ठी, पुरोहित, सार्थवाह, ग्राममहत्तर, राष्ट्रमहत्तर, गणधर के लक्षण, ग्लान श्रमणी की सेवा, संरंभ, समारंभ और आरम्भ के भेद-प्रभेद, हास्य और उसके उत्पन्न होने के विविध कारणों का वर्णन है।

पंचम उद्देशक में प्राभृतिक शय्या, छादन आदि भेद, सपरिकर्मशय्या, उसके चौदह प्रकारों का वर्णन है। जैन श्रमणों में परस्पर आहार आदि का जो व्यवहार होता है वह जैन पारिभाषिक शब्द में संभोग कहलाता है और उस सम्बन्ध को सांभोगिक सम्बन्ध कहते हैं। चूर्णिकार ने सांभोगिक सम्बन्ध को समझाने के लिए कुछ ऐतिहासिक आख्यान दिये हैं, यथा–भगवान महावीर, उनके शिष्य सुधर्मा, उनके जम्बू, उनके प्रभव, उनके शय्यंभव, उनके यशोभद्र, उनके संभूत, उनके स्थूलभद्र, स्थूलभद्र के आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती ये दो युगप्रधान शिष्य हुए। चन्द्रगुप्त का पुत्र बिन्दुसार, उसका अशोक और उसका पुत्र कुणाल हुआ।

छठे उद्देशक में गुरुचातुर्मासिक का वर्णन है। इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय मैथुन सम्बन्धी दोष और प्रायश्चित्त है।

सप्तम उद्देशक विकृत आहार, कुण्डल, गुण, मणि तुडिय, तिसरिय, वालंभा, पलंबाहार, अर्धहार, एकावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली, पट्ट, मुकुट आदि आभूषण का स्वरूप बताकर उनको धारण करने का निषेध है व आलिंगनादि का निषेध किया गया है।

अष्टम उद्देशक में उद्यान, उद्यानगृह, उद्यानशाला, निर्याण, निर्याणगृह, निर्याणशाला, अट्ट, अट्टालक, चरिका, प्राकार, द्वार, गोपुर, दक, दकमार्ग, दकपथा, दकतीर, दकस्थान, शून्यगृह, शून्यशाला, भिन्नगृह, भिन्नशाला, कूटागार, कोष्ठागार, तृणगृह, तृणशाला, तुषगृह, तुषशाला आदि का अर्थ स्पष्ट कर श्रमण को सूचित किया है कि इन सभी स्थानों में अकेली महिला के साथ विचरण न करे।

निशा में स्वजन-परिजन आदि के साथ भी न रहे और रहने पर प्रायश्चित्त का विधान है। साथ ही रात्रि में भोजन आदि की अन्वेषणा करना, ग्रहण करना आदि के लिए भी प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

नौवें उद्देशक में बताया है कि जो मूर्धाभिषिक्त है अर्थात् अभिषेक हो चुका है, जो सेनापति, अमात्य, पुरोहित, श्रेष्ठी और सार्थवाह सहित राज्य का उपभोग करता है, उसका पिण्ड श्रमण के लिए वर्ज्य है। जो मूर्धाभिषिक्त नहीं है उसके

लिए यह नियम नहीं है। अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादप्रोंछन ये आठ वस्तुएँ राजपिण्ड में आती हैं।

श्रमण को जीर्णान्तःपुर, नवान्तःपुर और कन्यकान्तःपुर में नहीं जाना चाहिए। कोष्ठागार, भाण्डागार, पानागार, क्षीरगृह, गजशाला, महानसशाला आदि का भी स्वरूप बताया गया है।

दसवें उद्देशक में भाषा की अगाढ़ता, परुषता आदि का विवेचन कर उसके प्रायश्चित्त का वर्णन किया है। आधाकर्मिक आहार के दोष व प्रायश्चित्त, रुग्ण की वैयावृत्य, उसकी यतना, उपेक्षा करने पर प्रायश्चित्त का विधान है। वर्षावास पर्युषणा के एकार्थक शब्द दिये गये हैं। आर्य कालक की भगिनी सरस्वती जो अत्यन्त रूपवती थी–उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल द्वारा उसके अपहरण आदि की कथा दी गई है।

ग्यारहवें उद्देशक में पात्र-ग्रहण की चर्चा है। भय के पहले चार भेद किये हैं– (१) पिशाच आदि से उत्पन्न भय, (२) मनुष्यादि से उत्पन्न भय, (३) वनस्पति से उत्पन्न भय और (४) अकस्मात् उत्पन्न होने वाला भय। फिर इहलोक, परलोक आदि सात भय बताये हैं।

अयोग्यदीक्षा का निषेध करते हुए कहा है कि अठारह प्रकार के पुरुष, बीस प्रकार की स्त्रियाँ और दस प्रकार के नपुंसक ये अयोग्य हैं। बालदीक्षा के तीन भेद किये हैं– (१) सात-आठ वर्ष का बालक उत्कृष्ट बाल है, (२) पाँच-छह वर्ष की आयु वाला मध्यम बाल है और (३) चार वर्ष तक की आयु वाला जघन्य बाल है। ये सभी दीक्षा के अयोग्य हैं। आठ वर्ष से अधिक आयु वाला बालक ही दीक्षा के योग्य माना गया है। वृद्ध, रोगी, उन्मत्त, मूढ़ आदि जो दीक्षा के अयोग्य हैं, उनका भी विविध भेदों से वर्णन किया है। प्रसंगानुसार सोलह प्रकार के रोग, आठ प्रकार की व्याधियों का भी निरूपण है। व्याधि और रोग में यही अन्तर है कि व्याधि का नाश शीघ्र होता है, किन्तु रोग का नाश लम्बे समय में होता है। बालमरण और पण्डितमरण पर भी विस्तार से विश्लेषण किया गया है।

बारहवें उद्देशक में त्रसप्राणी सम्बन्धी बन्धन व मुक्ति, प्रत्याख्यान, भंग आदि का वर्णन हुआ है।

तेरहवें उद्देशक में स्निग्ध पृथ्वी, शिला आदि पर कायोत्सर्ग, गृहस्थ को कटुक वचन, मन्त्र, लाभ व हानि, धातु का स्थान आदि बताना, वमन विरेचन प्रतिकर्म करना, पार्श्वस्थ कुशील की प्रशंसा व वन्दन, धात्रीपिण्ड, दूती-पिण्ड, निमित्तपिण्ड, चिकित्सापिण्ड, क्रोधादिपिण्ड का भोग करना ये सभी चतुर्लघु प्रायश्चित्त के योग्य हैं।

चौदहवें उद्देशक में पात्र सम्बन्धी दोषों का निरूपण कर उससे मुक्त होने के लिए प्रायश्चित्त का विधान है।

पन्द्रहवें उद्देशक में श्रमण-श्रमणियों को सचित्त आम खाने का निषेध किया है। द्रव्य आम के उस्सेतिम, संसेतिम, उवक्खड और पालिय ये चार भेद हैं और पलित आम के चार प्रकार बताये हैं। श्रमण-श्रमणियों की दृष्टि से तालप्रलम्ब के ग्रहण की विधि पर भी प्रकाश डाला है।

सोलहवें उद्देशक में श्रमण को देहविभूषा और अतिउज्ज्वल उपधि धारण का निषेध किया है। श्रमण-श्रमणियों को ऐसे स्थान पर रहना चाहिए जहाँ पर रहने से उनके ब्रह्मचर्य की विराधना न हो।

जुगुप्सित यानि घृणित कुल में आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए। जुगुप्सित इत्वरिक और यावत्कथिक रूप में दो प्रकार है। सूतक आदि वाले घर कुछ समय के लिए जुगुप्सित होते हैं। लुहार, कलाल, चर्मकार, ये यावत्कथिक-जुगुप्सित कुल हैं।

पूर्व में मगध से लेकर पश्चिम में स्थूणा पर्यन्त और दक्षिण में कौशाम्बी से लेकर उत्तर में कुणाला पर्यन्त आर्यदेश है, जहाँ पर श्रमण को विचरना चाहिए। भाष्यकार की भी यही मान्यता रही है।

सत्रहवें उद्देशक में गीत, हास्य, वाद्य, नृत्य, अभिनय आदि का स्वरूप बताकर श्रमण के लिए उनका आचरण करना योग्य नहीं माना गया है और प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

अठारहवें उद्देशक में नौका सम्बन्धी दोषों पर चिन्तन किया गया है। नौका पर आरूढ़ होना, नौका खरीदना, नौका को जल से स्थल और स्थल से जल में लेना। नौका में पानी भरना या खाली करना, नौका को खेना, नाव से रस्सी बांधना आदि के प्रायश्चित्त का वर्णन है।

उन्नीसवें उद्देशक में स्वाध्याय और अध्यापन के सम्बन्ध में चिन्तन किया है। स्वाध्याय का काल, अकाल, विषय, अस्वाध्यायकाल में स्वाध्याय करने से लगने वाले दोष, अयोग्य व्यक्ति को, पार्श्वस्थ व कुशील को अध्ययन कराने से लगने वाले दोष और योग्य व्यक्ति को न पढ़ाने से लगने वाले दोषों पर प्रकाश डाला है।

बीसवें उद्देशक में मासिक आदि परिहारस्थान, प्रतिसेवन, आलोचन, प्रायश्चित्त आदि पर चिन्तन किया गया है।

चूर्णि के उपसंहार में लेखक ने अपना नाम जिनदासगणि महत्तर बताया है और चूर्णि का नाम विशेषचूर्णि लिखा है।

प्रस्तुत चूर्णि का चूर्णिसाहित्य में एक विशिष्ट स्थान है। इसमें आचार के नियमोपनियम की सविस्तृत व्याख्या है। भारत की सांस्कृतिक, सामाजिक, दार्शनिक प्राचीन सामग्री का इसमें अनूठा संग्रह है। अनेक ऐतिहासिक और पौराणिक कथाओं का सुन्दर संकलन है। धूर्ताख्यान, तरंगवती, मलयवती, मगधसेन, आर्यकालक आदि की कथाएँ प्रेरणात्मक हैं।

निशीथचूर्णिदुर्गपदव्याख्या

जैन परम्परा में श्री चन्द्रसूरि नाम के दो आचार्य थे। एक मलधारी हेमचन्द्रसूरि के शिष्य थे तो दूसरे चन्द्रकुली श्री शीलभद्रसूरि और धनेश्वरसूरि गुरु युगल के शिष्य थे। जिनका दूसरा नाम पार्श्वदेवगणि भी था। उन्होंने निशीथचूर्णि के बीसवें उद्देशक पर निशीथचूर्णिदुर्गपदव्याख्या नामक टीका लिखी है। चूर्णि के कठिन स्थलों को सरल व सुगम बनाने के लिए इसकी रचना की गई है, जैसा कि व्याख्याकार ने स्वयं स्वीकार किया है। पर यह वृत्ति महीनों के प्रकार, दिन आदि के सम्बन्ध में विवेचन करने से नीरस हो गई है।

निशीथसूत्र भाष्य, चूर्णि और परिशिष्ट के साथ उपाध्याय श्री अमर मुनिजी म. और पण्डित मुनिश्री कन्हैयालाल जी म. 'कमल' द्वारा सम्पादित चार भागों का प्रकाशन सन्मति ज्ञानपीठ आगरा से हुआ है। उसका द्वितीय संस्करण भी पुनः आगरा से ही प्रकाशित हुआ है। निशीथः एक अध्ययन नाम से पण्डित दलसुखभाई मालवणिया ने उस पर विस्तृत प्रस्तावना भी लिखी, जो उनके गम्भीर अध्ययन की परिचायिका है। डबल्यू शूब्रिंग मूलसूत्र लाइप्त्सिग १९१८ जैन साहित्य संशोधक समिति पूना से प्रकाशित हुआ। निशीथसूत्र का सर्वप्रथम मूलपाठ के साथ हिन्दी अनुवाद आचार्य अमोलकऋषिजी म. ने किया, जिसका प्रकाशन सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद जौहरी हैदराबाद द्वारा वीर सं. २४४६ में हुआ। आचार्यप्रवर श्री घासीलालजी म. ने निशीथ पर संस्कृत भाषा में टीका लिखी है। और वह जैन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट से प्रकाशित हुआ। सुत्तागमे के दो भाग में धर्मोपदेष्टा फूलचन्दजी म. 'पुष्फभिक्खू' ने बत्तीस आगमों के मूलपाठ प्रकाशित किये। उसमें निशीथ का मूल पाठ प्रकाशित हुआ है। नवसुत्ताणि नामक ग्रन्थ में आचार्य श्री तुलसीजी के नेतृत्व मे युवाचार्य महाप्रज्ञजी ने जो सम्पादन किया, उसमें मूलपाठ के रूप में निसीहज्झयणं भी प्रकाशित है। इसमे पाठान्तर भी दिये गये हैं। इस प्रकार निशीथ पर आज दिन तक विभिन्न

स्थानों से प्रकाशन हुए हैं। पर निशीथ पर विवेचन युक्त कोई भी संस्करण नहीं निकला, जो निशीथ में रहे हुए रहस्यों को उद्घाटित कर सके। इसका मूल कारण गोपनीयता ही है।

आगम प्रकाशन समिति द्वारा प्रकाशित त्रीणिछेद सुत्ताणि और निशीथसूत्र

चिरकाल से दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्पसूत्र, व्यवहारसूत्र तथा निशीथ सूत्र पर हिन्दी अनुवाद और विवेचन की अपेक्षा थी जिसकी पूर्ति एक प्रकार से इन प्रकाशनों द्वारा हुई है। इनके सम्पादक हैं मुनि श्री कन्हैयालालजी म. 'कमल'। आप जीवन के उषाकाल से ही श्रुतसेवा में समर्पित रहे हैं। उन्होंने कठिन श्रम कर गणितानुयोग, धर्मकथानुयोग, और चरणकरणानुयोग के विराट्काय ग्रन्थ कई जिल्दों में प्रकाशित कर दिये हैं। द्रव्यानुयोग का प्रकाशन भी कई जिल्दों में होने जा रहा है। उन्होंने हर एक आगमों का शानदार सम्पादन भी किया है। उन्हीं के कठिन श्रम के फलस्वरूप ही निशीथभाष्य व विशेषचूर्णि सहित आगरा से प्रकाशित हुआ था। आगमसाहित्य के मर्मज्ञ मनीषी के द्वारा तीन छेदसूत्रों और निशीथ का अनुवाद और विवेचन लिखा गया है। विवेचन में लेखक की प्रकृष्ट प्रतिभा सहजरूप से प्रकट हुई है। प्राचीन ग्रन्थों के आलोक में बहुत ही संक्षिप्त में सारपूर्ण विवेचन लिखा है। विषय के तलछट तक पहुँचकर विषय को बहुत ही सुन्दर सरस शब्दावली में प्रस्तुत करना उनका स्वभाव है।

तीनों छेदसूत्रों और निशीथसूत्र का मूलपाठ शुद्ध है। अनुवाद इतना अधिक सुन्दर हुआ है कि पाठक पढ़ते-पढ़ते विषय को सहज ही हृदयंगम कर लेता है। अनुवाद की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह प्रवाहपूर्ण है। निशीथ जैसे गुरु-गम्भीर रहस्य भरे आगम पर विवेचन लिखना हंसी-मजाक का खेल नहीं है। उनमें उनकी सहज बहुश्रुतता के दर्शन होते हैं।

इस प्रकार निशीथ सूत्र की गोपनीयता को रखते हुए भी जो संस्करण प्रकाशित हुए हैं उनके आधार पर पाठक बहुत कुछ प्राप्त कर सकते हैं विशेष अभ्यासी निशीथ भाष्य का परिशीलन भी कर सकते हैं।

● ●